कल्याण

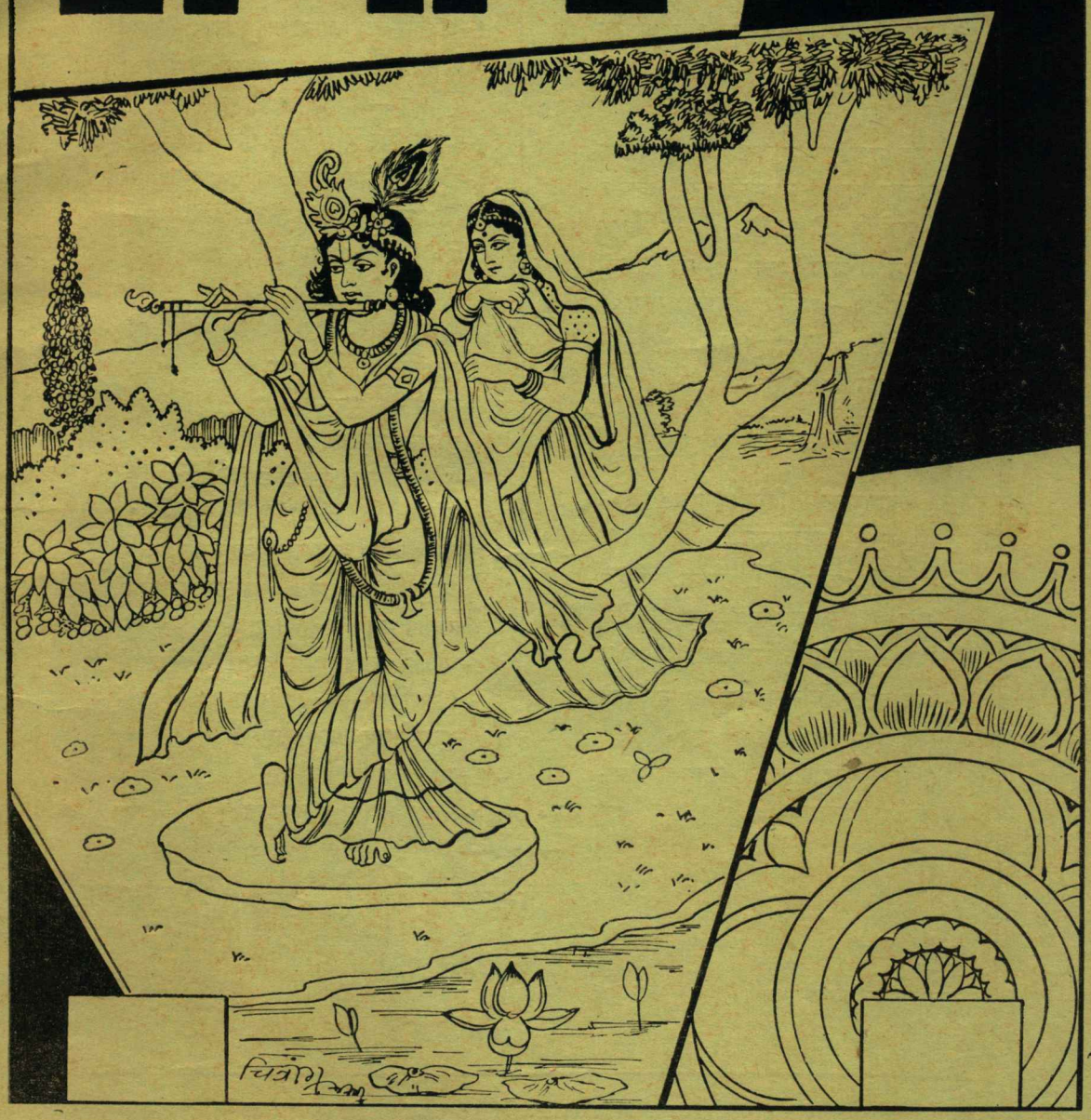

वर्ष ४३] * परिशिष्टाङ्क * [अङ्क २

संस्करण १,६०,०००

परिशिष्टाङ्क

विषय-सूची

कल्याण, सौर फाल्गुन २०२५, फरवरी १९६९

विषय	पृष्ठ-संख्या
१—मुरली तथा मोहनी छविका चमत्कार [कविता]	६९७
२—गर्भमें जीवकी चिन्ता और प्रतिज्ञा [संकलित]	६९८
३—कल्याण ('शिव') ...	६९९
४—ब्रह्मलीन श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके परलोक तथा पुनर्जन्म-सम्बन्धी विचार (पुराने लेखोंसे संकलित) ...	७०१
५—कामनाकी आग विषयभोगसे नहीं बुझती [संकलित—पद्य] (श्रीतुलसीदासजी)	७०२
६—तद् विष्णोः परमं पदम् (पं० श्रीबलदेवजी उपाध्याय, एम्० ए०, डी० लिट्०, साहित्याचार्य)	७०३
७—ज्ञान-कर्मसमुच्चय तथा गति-रहस्य (श्रीबाबूरामजी द्विवेदी, एम्० ए०, बी० एड्०, साहित्यरत्न) ...	७०५
८—श्रीकृष्णके जन्म-कर्मको तत्त्वतः जाननेसे मुक्ति (श्रीकृष्णप्रसादजी शर्मा, धिमिरे, शास्त्री, काव्यतीर्थ, भागवत) ...	७१७
९—मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते (श्रीरामप्यारेजी मिश्र, एम्० ए० (संस्कृत तथा हिंदी), व्याकरणशास्त्राचार्य, साहित्यरत्न) ...	७२०
१०—युधिष्ठिर महान् [महाभारतसे संकलित] (श्रीगिरिजाशंकरजी त्रिवेदी) ...	७२५
११—अवतार-जन्म-कर्म-रहस्य [ब्रजभाषामें किन्हीं अज्ञातनामा प्राचीन महात्माका लिखा हुआ] (प्रेषक—श्रीराधेशरणजी 'युगलदासी')	७२६
१२—प्रारब्ध-विचार (श्रीसुदर्शनसिंहजी)...	७३०
१३—संस्कृत-साहित्यमें परलोक तथा पुनर्जन्मके सिद्धान्त (श्रीरामप्यारेजी मिश्र, एम्० ए० (संस्कृत तथा हिंदी), व्या० शास्त्राचार्य, साहित्यरत्न) ...	७३७
१४—जीवन और मृत्यु (श्रीहरिकृष्णदासजी गुप्त 'हरि')	७४१
१५—पुराणकी पुनर्जन्म-कथा (श्रीगोपालकृष्णजी मल्लिक) ...	७४२
१६—मृत्यु-विज्ञानपर एक दृष्टि (श्रीरतनलालजी परमार)	७४५
१७—शाप और वरदानसे आयुनाश और आयुवृद्धि (डॉ० श्रीसम्पूर्णानन्दजी पाण्डेय एम्० ए०, पी-एच्० डी०)...	७४७
१८—भलाई, बुराई और दवाई [कविता] (रचयिता—पं० श्रीसीतारामजी शुक्ल, भूतपूर्व एम्० एल्० ए०) ...	७४९
१९—पढ़ो, समझो और करो ...	७५०
२०—संत कौन है ? [संकलित] ...	७५६

चित्र-सूची

१—मधुर युगल	(रेखाचित्र) ...	मुखपृष्ठ
२—परम मधुर श्रीराधेश्याम	(तिरंगा) ...	६९७

वार्षिक मूल्य भारतमें ९.००
विदेशमें १३.३५ (१५ शिलिंग)
जय विराट जय जगत्पते । गौरीपति जय रमापते ॥
साधारण प्रति भारतमें ५० पै०
विदेशमें ८० पै० (१० पेंस)

सम्पादक—हनुमानप्रसाद पोद्दार, चिम्मनलाल गोस्वामी, एम्० ए०, शास्त्री
मुद्रक-प्रकाशक—मोतीलाल जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर

परम मधुर श्रीराधेश्याम

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

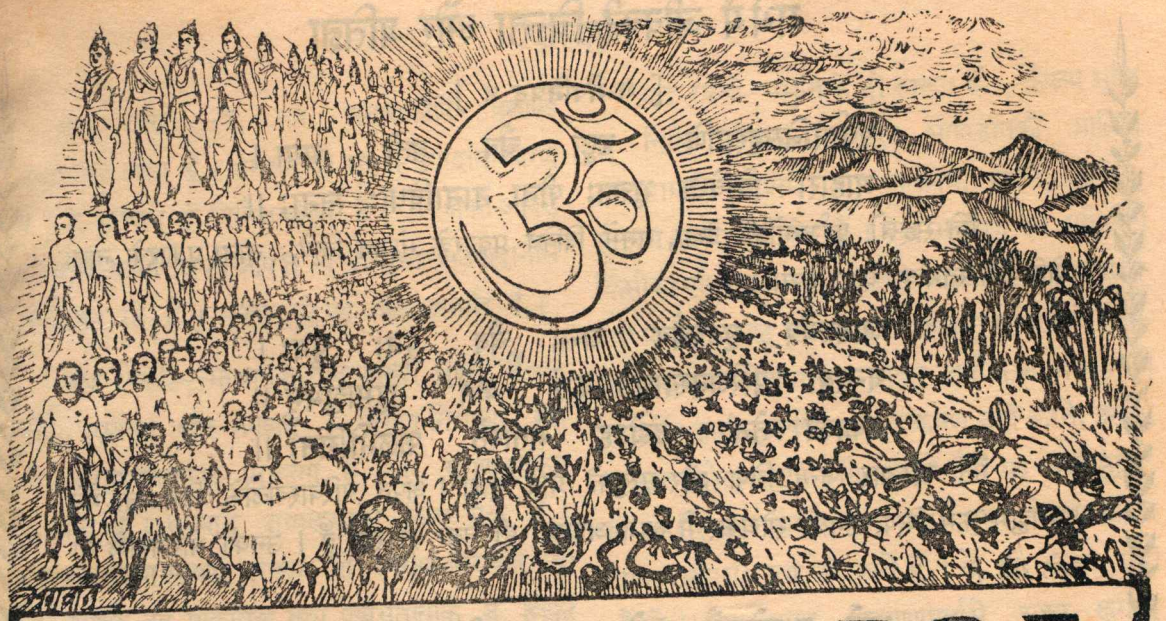

कल्याण

शृण्वन् गृणन् संस्मरयंश्च चिन्तयन् नामानि रूपाणि च मङ्गलानि ते ।
क्रियासु यस्त्वच्चरणारविन्दयोराविष्टचेता न भवाय कल्पते ॥

वर्ष ४३ | गोरखपुर, सौर फाल्गुन २०२५, फरवरी १९६९ | संख्या २ पूर्ण संख्या ५०७

मुरली तथा मोहनी छबिका चमत्कार

सुनि मधु मुनि-मन-मोहनि मुरली, करि मधु रूप-सुधा-रस-पान ।
बिसरे अग-जग तन-मन सगरे, राधा भई तुरत बेभान ॥
स्रवन-नयन-पथ करि प्रबेस उर, छेड़ि रहे मधु मुरलीतान ।
छाय रहे, रस लगे उँड़ेलन दिव्य मधुर रसराज सुजान ॥
जोगी परम सिद्ध तापस मुनि ग्यानी जीवन्मुक्त महान ।
सुने मुरली, अवलोकि मधुर छबि, रखि नहिं सकत चित्त-अवधान ॥
चकित, थकित, उर द्रवित, स्रवत दृग, बरबस तजि बिराग अरु ग्यान ।
डूबत मधुर प्रेम-रस-निधि अति, भजत अहैतुक-मन भगवान ॥

गर्भमें जीवकी चिन्ता और प्रतिज्ञा

[गर्भोपनिषद् ४]

पूर्वयोनिसहस्राणि दृष्ट्वा चैव ततो मया ।
आहारा विविधा भुक्ताः पीता नानाविधाः स्तनाः ॥

मैंने सहस्रों पूर्वजन्मोंको देखा, उनमें विविध प्रकारके भोजन किये, नाना प्रकारके नाना योनियोंके स्तनोंका पान किया ।

जातश्चैव मृतश्चैव जन्म चैव पुनः पुनः ।
यन्मया परिजनस्यार्थे कृतं कर्म शुभाशुभम् ॥
एकाकी तेन दह्येऽहं गतास्ते फलभोगिनः ॥

मैंने बार-बार जन्म लिया और मृत्युको प्राप्त हुआ । अपने परिवारवालोंके लिये जो मैंने शुभाशुभ कर्म किये, उनको सोचकर मैं आज अकेला ही जला जा रहा हूँ । उनको भोगनेवाले तो चले गये ।

अहो दुःखोदधौ मग्नो न पश्यामि प्रतिक्रियाम् ।
यदि योन्याः प्रमुच्येऽहं तत्प्रपद्ये महेश्वरम् ॥

अहो ! मैं आज दुःखोंके समुद्रमें डूब रहा हूँ; बचनेका कोई उपाय नहीं देख रहा हूँ । यदि इस योनिसे मैं छूट जाऊँगा, इस गर्भसे बाहर निकल जाऊँगा तो महान् ईश्वरकी शरण ग्रहण कर उनका भजन करूँगा ।

अशुभक्षयकर्तारं फलमुक्तिप्रदायकम् ।
यदि योन्याः प्रमुच्येऽहं तत्प्रपद्ये नारायणम् ॥

यदि मैं इस योनिसे छूट जाऊँगा तो मैं अशुभका नाश करनेवाले तथा मुक्तिरूप फल प्रदान करनेवाले भगवान् नारायणकी शरण ग्रहण करूँगा ।

अशुभक्षयकर्तारं फलमुक्तिप्रदायकम् ।
यदि योन्याः प्रमुच्येऽहं तत्सांख्यं योगमभ्यसे ॥

यदि मैं इस योनिसे छूट जाऊँगा तो मैं अशुभका नाश करनेवाले तथा मुक्तिरूप फलप्रदान करनेवाले सांख्य और योगका अभ्यास करूँगा ।

अशुभक्षयकर्तारं फलमुक्तिप्रदायकम् ।
यदि योन्याः प्रमुच्येऽहं ध्याये ब्रह्म सनातनम् ॥

यदि मैं इस योनिसे छूट जाऊँगा तो अशुभका नाश करनेवाले तथा मुक्तिरूप फल-प्रदान करनेवाले सनातन ब्रह्मका ध्यान करूँगा ।

याद रक्खो—ये सब अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड भगवान्‌की लीला हैं। भगवान् ही सबके उपादान-कारण हैं और भगवान् ही निमित्तकारण हैं। वे अपने-आपसे ही अपने-आपमें अपने-आपके स्वरूपभूतलीला-उपादानोंसे लीला कर रहे हैं। भगवान्‌की यह लीला अनादि है।

याद रक्खो—भगवान्‌के तीन स्वरूप मुख्य हैं—ब्रह्म, परमात्मा और भगवान्। निर्गुण-निराकार ब्रह्म हैं, सगुण-निराकार परमात्मा हैं और सगुण-साकार भगवान् हैं। भगवान् तत्त्वस्वरूपसे नित्य एक हैं। उनका सगुण-साकार स्वरूप भी निर्गुण-निराकार ही है; क्योंकि वह प्राकृतिक तथा पञ्चभूतात्मक न होकर भगवत्स्वरूप ही है।

याद रक्खो—एक ही भगवान् श्रीविष्णु, श्रीशिव, श्रीराम, श्रीकृष्ण, महादेवी दुर्गा आदि रूपोंमें नित्य लीलायमान हैं।

याद रक्खो—वे ही स्वयं चेतन-आत्मारूपसे जीव-मात्रमें स्थित हैं। भगवान्‌की दृष्टिसे भगवान्‌के सिवा कुछ भी न है, न होता है; परंतु उन्हींकी लीलासे एक ही आत्मा अनन्त विविध विचित्र रूपोंमें 'प्रकृतिस्थ' जीवात्माके रूपमें वर्त्तमान है, जो प्रकृति-परवशताके कारण विभिन्न कर्म करता, विभिन्न सुख-दुःखोंको भोगता तथा विभिन्न योनियोंमें लोक-परलोकमें भ्रमण करता है।

याद रक्खो—जबतक पुरुष 'प्रकृतिस्थ' है, तबतक उसका बार-बार जन्म-मरण होकर परलोक तथा पुनर्जन्मको प्राप्त होना अनिवार्य है। भगवान्‌की अनन्यभक्ति अथवा तत्त्वज्ञानसे जब प्रकृति-सम्बन्ध छूट जाता है, तब जन्म-मरणके चक्रसे मुक्ति मिल जाती है और भगवान्‌के स्वरूपमें स्थिति हो जाती है। यही 'स्वस्थ' स्थिति है।

याद रक्खो—मुक्तिके दो स्वरूप हैं—कैवल्य मुक्ति या नित्य सच्चिदानन्दस्वरूप भगवद्धामकी प्राप्ति। भगवद्धामकी प्राप्तिमें भी सालोक्य, सार्ष्टि, सामीप्य, सारूप्य आदि कई भेद हैं। प्रेमी भक्तगण इन मुक्तियोंमें किसीको स्वीकार न कर, प्रकृतिसे अतीत दिव्य 'भगवत्तत्त्व-मय' प्राण, मन, देह आदिसे युक्त प्रकृति-मुक्त स्थितिमें, नित्य-निरन्तर भगवत्सेवापरायण होकर अलौकिक भगवद्धाममें रहते हैं। ज्ञानी पुरुषके प्राण उत्क्रमण नहीं करते, उसको तत्काल 'कैवल्य मुक्ति' मिल जाती है। यह 'सद्योमुक्ति' है। दूसरे ज्ञानपरायण तथा भक्त पुरुष देवयानमार्गसे जाकर क्रमशः मुक्त हो जाते हैं। ये भी वापस नहीं लौटते। पुण्यात्माजन पितृयाणमार्गसे जाकर स्वर्गादि लोकोंमें वहाँके भोग भोगकर, पुण्य समाप्त होनेपर फिर मर्त्यलोकमें लौट आते हैं।

याद रक्खो—भगवान्‌के वैकुण्ठ, गोलोक, साकेत, कैलास, देवीद्वीप आदि सभी एक ही महान् भगवत्स्वरूप नित्य परमधामके विभिन्न स्वरूप हैं, जो अनादि हैं तथा नित्य हैं। भगवान्‌की दो विभूतियाँ हैं—एकपाद्‌विभूति और त्रिपाद्‌विभूति। अनन्तकोटि विभिन्न ब्रह्माण्डोंसे युक्त प्रकृति एकपाद्‌विभूतिमें है। भगवान्‌का दिव्य परमधाम त्रिपाद्‌विभूतिमें है। यह प्रकृतिसे सर्वथा परे, इस लोकके सूर्य, चन्द्र और अग्निको सूर्यत्व, चन्द्रत्व और अग्नित्व प्रदान करनेवाला, अनन्तकोटि दिव्य सूर्य, चन्द्र, अग्निकी ज्योतिर्मय शीतल स्निग्ध प्रभासे विभूषित, प्रलयहीन, अमृत, अनन्त, शाश्वत, शुद्ध सत्त्वमय, अज, अक्षर तथा परम सौन्दर्यनिकेतन परमानन्दधाम है। वह सभी दशाओं, स्थितियों और आवरणोंसे मुक्त है। अतएव प्रकृतिराज्यसे सर्वथा अतीत विशुद्ध भगवद्-राज्यमें प्रवेश होनेपर ही इनका रहस्य, रूप और तत्त्व समझमें आ सकता है। प्राकृतिक बुद्धि वहाँतक पहुँच ही नहीं सकती।

याद रक्खो—पापका आचरण करनेवाले लोग नरकोंमें जाते हैं और वहाँ 'यातना-शरीर' पाकर भाँति-भाँतिकी यन्त्रणा भोगते हैं । नरक रूपक या कल्पना नहीं हैं—सत्य हैं। नरकभोगके अनन्तर या पहले ही कर्मानुसार पापीजनोंको आसुरीयोनि—कूकर-सूकर, शृगाल आदि योनियोंमें जन्म लेकर वहाँ दुःख भोगने पड़ते हैं। मनुष्य-जन्म होता है तो वहाँ भी उन पापाचारियोंको नित्य रोगग्रस्त तथा विविध अभावोंसे पीड़ित रहना पड़ता है।

याद रक्खो—पापकर्मा जीव कर्मवश प्रेत होते हैं । यद्यपि प्रेतोंके नामपर ठगी, दम्भ, जालसाजी बहुत चलती है; पर वास्तवमें प्रेतयोनि सत्य तथ्य है और उससे छुटकारेके उपाय हैं—गायत्रीपुरश्चरण, श्रीमद्भागवतका सप्ताह पाठ, भगवान् शंकरकी उपासना, भगवन्नाम-जप, कीर्तन आदि । मृतक-श्राद्ध विधिवत् अवश्य करना चाहिये । पिण्डदान, नियमित श्राद्ध, तर्पण आदिसे भी प्रेतयोनिसे छुटकारा मिल जाता है। कम-से-कम, वहाँके कष्ट कम हो जाते हैं और प्रेतत्वकी अवधि घट जाती है। श्राद्ध, तर्पण और पिण्डदानादि न करनेपर प्रेतयोनिकी प्राप्ति, उसकी अवधि-वृद्धि और यन्त्रणाओंकी वृद्धि होती है।

याद रक्खो—इसी प्रकार 'प्रेतबाधा' भी होती है—यद्यपि इस क्षेत्रमें भी मिथ्यावाद, ढोंग, ठगी, बदमाशी बहुत चलती है। कहीं हिस्टीरिया आदि रोगोंको भी प्रेतबाधा मान लिया जाता है । तथापि प्रेतबाधा सचमुच होती भी है । उसका निवारण अखण्ड भगवन्नामकीर्तन, भागवतपाठ, गायत्रीजप आदिसे होता है।

याद रक्खो—मनुष्यकी उच्च-नीच गतिमें, परलोक-पुनर्जन्मकी विविधतामें और सुख-दुःखादिकी प्राप्तिमें उसके अपने किये हुए कर्म ही कारण हैं । अतएव सदा-सर्वदा शास्त्रोक्त वैध कर्म ही करने चाहिये। मन, वाणी और शरीरसे सभी ऐसे सत्कर्म करने चाहिये, जो किसी भी जीवका अनिष्ट न करनेवाले हों, सबका हित करनेवाले हों और शास्त्रोक्त हों । जिस कर्मसे दूसरोंका अहित होता है, उससे अपना हित कभी नहीं हो सकता।

याद रक्खो—कर्मका फल यहाँके बीज तथा फलके अनुसार ही होता है । थोड़ा-सा बीज बोते हैं—उसके फलस्वरूप अनन्तगुना अनाज पैदा होता है। इसी प्रकार छोटे-से बुरे कर्मोंका फल दीर्घकालीन नरक या नारकी योनिकी प्राप्ति एवं थोड़ेसे पुण्य-कर्मोंका फल दीर्घकालीन स्वर्गादि सुख तथा शुभ योनियोंकी प्राप्ति होता है। अतएव मनुष्यको सदा-सर्वदा सत्कर्म ही करने चाहिये।

याद रक्खो—सत्कर्म यदि निष्कामभावसे, भगवत्प्रीत्यर्थ, भगवान्‌की पूजाके स्वरूपमें किये जाते हैं तो उनका फल मोक्ष या भगवत्प्राप्ति होता है। अतएव प्रत्येक सत्कर्मके द्वारा भगवान्‌की पूजा करनेका भाव रखना चाहिये।

याद रक्खो—भूर्लोक, भुवर्लोक, स्वर्लोक, महर्लोक, जनलोक और ब्रह्म या सत्यलोक ऊपरके हैं तथा अतल, तलातल, वितल, सुतल, महातल, रसातल और पाताल नीचेके लोक हैं। भुवर्लोकमें ही स्वर्ग, पितृलोक, यमलोक आदि हैं । इन सबकी स्वरूप-स्थितिमें उच्च-नीचका महान् अन्तर है तथापि ये हैं सभी प्रकृतिराज्यमें ही । ब्रह्मलोकतक पहुँचा हुआ प्राणी भी वापस आ सकता है । केवल भगवत्प्राप्त पुरुष—'कैवल्य मोक्ष'को या 'भगवान्‌के परमधाम'को प्राप्त पुरुष ही वापस—जन्म-मृत्युके चक्रमें नहीं लौटता।

याद रक्खो—एक मनुष्य-शरीर ही ऐसा है, जो मोक्ष या भगवत्प्राप्तिके लिये ही मिलता है । नारकी प्राणी

भी मनुष्ययोनिमें आकर कर्मफलरूप दुःख भोगता हुआ भी यदि भगवान्‌का भजन करता है और प्रत्येक फलभोगमें भगवान्‌का मङ्गल-विधान मानकर प्रसन्न होता और प्रत्येक छोटे-बड़े सत्कर्मको भगवान्‌की प्रीतिके लिये करता है तो वह भी भगवान्‌को प्राप्त होकर मनुष्यजीवनको सफल करता है।

याद रक्खो—मानव-जीवन भोगोंके लिये है ही नहीं; मानव-जीवनको जो भोगोंमें खो देता है—भोगोंके अर्जन तथा उनके उपभोगमें वह निरन्तर चिन्ताग्रस्त, अशान्त-चित्त तो रहता ही है; भोगासक्तिके कारण नये-नये पाप करता है, जिनका फल उसके भविष्यको बिगाड़ देता है। वह बार-बार नरकों तथा आसुरी योनियोंमें जाता है। अतएव मानव-जीवनका प्रत्येक क्षण केवल भगवान्‌की सेवामें ही लगना चाहिये, भोग-सेवनमें कदापि नहीं। तभी भगवत्प्राप्ति होगी—जो मानव-जीवनकी परम और चरम सफलता है।

'शिव'

ब्रह्मलीन श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके परलोक तथा पुनर्जन्म-सम्बन्धी विचार

(पुराने लेखोंसे संकलित)

[गताङ्क पृष्ठ २४ से आगे]

(४) जीवोंमें जो सुख-दुःखका भेद, प्रकृति अर्थात् स्वभाव और गुण-कर्मका भेद—काम-क्रोध, राग-द्वेष आदिकी न्यूनाधिकता तथा क्रियाका भेद एवं बुद्धिका भेद दृष्टिगोचर होता है, उससे भी पूर्वजन्मकी सिद्धि होती है। एक ही माता-पितासे उत्पन्न हुई संतान—यहाँतक कि एक ही साथ पैदा हुए बच्चे भी इन सब बातोंमें एक-दूसरेसे विलक्षण पाये जाते हैं। पूर्वजन्मके संस्कारोंके अतिरिक्त इस विचित्रतामें कोई हेतु नहीं हो सकता। जिस प्रकार ग्रामोफोनकी चूड़ीपर उतरे हुए किसी गानको सुनकर हम यह अनुमान करते हैं कि इसी प्रकार किसी मनुष्यने इस गीतको कहीं अन्यत्र गाया होगा, तभी उसकी प्रतिध्वनिको आज हम इस रूपमें सुन पाते हैं, उसी प्रकार आज हम किसीको सुखी अथवा दुखी देखते हैं, अथवा अच्छे-बुरे स्वभाव और बुद्धिवाला पाते हैं तो उससे यही अनुमान होता है कि उसने पूर्वजन्ममें वैसे ही कर्म किये होंगे, जिनके संस्कार उसके अन्तःकरणमें संगृहीत हैं, जिन्हें वह अपने साथ लेता आया है। यदि किसीको वर्तमान जीवनमें हम सुखी पाते हैं तो इसका मतलब यही है कि उसने पूर्वजन्ममें अच्छे कर्म किये होंगे और दुखी पाते हैं तो इसका मतलब यह होता है कि उसने पूर्वजन्ममें अशुभ कर्म किये होंगे। यही बात स्वभाव, गुण और बुद्धि आदिके सम्बन्धमें समझनी चाहिये।

यदि कोई कहे कि 'संस्कारोंके भेदके लिये पूर्वजन्मको माननेकी क्या आवश्यकता है? ईश्वरकी इच्छाको ही इसमें हेतु क्यों न मान लिया जाय?' तो इसका उत्तर यह है कि इस वैचित्र्यका कारण ईश्वरको माननेसे उनमें वैषम्य एवं नैर्घृण्य (निर्दयता) का दोष आयेगा। वैषम्यका दोष तो इस बातको लेकर आयेगा कि उन्होंने अपने मनसे किसीको सुखी और किसीको दुखी बनाया और निर्दयताका दोष इसलिये आयेगा कि उन्होंने कुछ जीवोंको बेमतलब ही दुखी बना दिया। ईश्वरमें कोई दोष घट नहीं सकता; इसलिये पूर्वकृत कर्मोंको ही लोगोंके स्वभावके भेद तथा भोगके वैषम्यमें हेतु मानना पड़ेगा।

इन सब युक्तियोंसे यही सिद्ध होता है कि परलोक अवश्य है। फिर भी कोई मान सकता है कि परलोक नहीं है और इधर हम कहते हैं कि परलोक है; ऐसी स्थितिमें यदि उसीकी बात सत्य हो तो उससे भी हमारी कोई हानि नहीं; क्योंकि परलोक न होनेकी स्थितिमें परलोकको न माननेवालेका कोई विशेष लाभ होता हो और माननेवालेको कोई दण्ड मिलता हो—ऐसी बात तो है नहीं; किंतु यदि हमारे पक्षके अनुसार परलोक है तो हमारी मान्यता हमारे लिये बहुत लाभदायक सिद्ध होगी; क्योंकि हम परलोक

मानकर दुर्गति तथा दण्डके भयसे कोई भी बुरा काम नहीं करेंगे, अपितु इस लोक और परलोकमें सुख प्राप्त करनेके लिये अच्छा काम करेंगे। किंतु जो परलोक नहीं मानता, उसे पापका दण्ड तो भोगना ही पड़ेगा और बिना श्रद्धाके अच्छा काम न करनेके कारण वह सुखसे भी वञ्चित रह जायगा। परलोक न माननेसे मनुष्यमें पशुओंकी अपेक्षा भी अधिक उच्छृङ्खलता आ जायगी और उच्छृङ्खल मनुष्यमें झूठ, कपट, चोरी, जारी, हिंसा आदि पाप-कर्मोंकी एवं काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार आदि अवगुणोंकी वृद्धि होकर उसका पतन हो जाता है, जिसके परिणाममें वह महान् दुखी बन जाता है। अतः उसकी सब प्रकारसे हानि-ही-हानि है। परंतु परलोकको माननेसे बड़ा भारी लाभ है। परलोकको माननेसे मनुष्य बुरे कामोंसे बचकर अच्छे काम करता है। अच्छे काम करनेवाले पुरुषका इस लोकमें प्रत्यक्ष मान होता है और जो बुरा काम करता है, वह प्रत्यक्ष ही घृणाकी दृष्टिसे देखा जाता है। उसका जीवननिर्वाह भी कठिन हो जाता है। परलोक सत्य है और सत्य बातको सत्य माननेमें भी कल्याण है। 'आत्मा नित्य है, शरीरके नाश होनेपर भी आत्माका नाश नहीं होता; इसलिये इस जन्ममें किये हुए शुभाशुभ कर्मोंका फल अगले जन्ममें अवश्य ही भोगना पड़ता है।' जब वास्तवमें इस प्रकारका निश्चय हो जायगा, तब मनुष्य जन्म-मृत्यु, जरा-व्याधिके दुःखोंसे छूटनेके लिये निष्काम-भावसे यज्ञ, दान, तप, सेवा आदि उत्तम कर्मोंके तथा श्रवण, कीर्तन, स्मरण आदि ईश्वरकी उपासनाके द्वारा सम्पूर्ण दुराचार, दुर्गुण एवं दुःखोंसे मुक्त होकर उस विज्ञानानन्दघन परमात्माको प्राप्त हो जायगा।

विचार करनेपर मालूम होता है कि शाश्वत एवं निरतिशय सुखकी प्राप्ति तथा दुःखोंसे सदाके लिये छुटकारा पा जाना ही जीवमात्रका ध्येय है और उसीके लिये मनुष्यको यत्नवान् होना चाहिये। शास्त्रोंमें पुनर्जन्मको ही दुःखका घर बतलाया गया है और परमात्माकी प्राप्ति ही इस दुःखसे छूटनेका एकमात्र उपाय है। भगवान् श्रीकृष्ण गीतामें कहते हैं—

मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम्।
नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः॥
(८।१५)

'परम सिद्धिको प्राप्त महात्माजन मुझको प्राप्त होकर दुःखोंके घर एवं क्षणभङ्गुर पुनर्जन्मको नहीं प्राप्त होते।'

इससे यह सिद्ध हुआ कि परमात्माकी प्राप्ति ही दुःखोंसे सदाके लिये छूटनेका एकमात्र उपाय है और यह मनुष्य-जन्ममें ही सम्भव है। अतः जो इस जन्मको पाकर परमात्माको प्राप्त कर लेते हैं, वे ही संसारमें धन्य हैं और वे ही बुद्धिमान् एवं चतुर हैं।

कामनाकी आग विषयभोगसे नहीं बुझती

मन पछितैहै अवसर बीते।
दुरलभ देह पाइ हरिपद भजु, करम बचन अरु ही ते॥
सहसबाहु, दसबदन आदि नृप बचे न काल बली ते।
हम-हम करि धन धाम सँवारे, अंत चले उठि रीते॥
सुत-बनितादि जानि स्वारथरत, न करु नेह सबही ते।
अंतहु तोहि तजैंगे पामर! तू न तजै अब ही ते॥
अब नाथहिं अनुराग, जागु जड़, त्यागु दुरासा जी ते।
बुझै न काम अगिनि तुलसी कहुँ, बिषय भोग बहु घी ते॥

(—तुलसीदासजी—विनयपत्रिका)

तद् विष्णोः परमं पदम्

(लेखक—पं० श्रीबलदेवजी उपाध्याय, एम्० ए०, डी० लिट्०, साहित्याचार्य)

भगवान् विष्णुकी महिमा अकथनीय है। वे वैदिक देवता हैं और अनेक वैदिक मन्त्रोंमें उनके स्वरूपका स्पष्ट परिचय मिलता है। ऋग्वेदके सूक्तोंमें उनके एक विलक्षण कार्यकी ओर बारंबार ध्यान आकृष्ट कराया गया है और वह कार्य है—तीन पदों (क्रमों)में विश्वको माप डालना। 'उन्होंने इस दीर्घ, विस्तृत विश्व (सधस्थ—**सध सह तिष्ठन्ति जना यत्र**) को अकेले ही बिना किसीकी सहायतासे, तीन पदों (पग या डग) के द्वारा नाप लिया'—

'य इदं दीर्घं प्रयतं सधस्थमेको विममे त्रिभिरित् पदेभिः ॥'

(ऋग्वेद १ । १५४ । ३)

इसी विलक्षण वीरकर्मके कारण विष्णु वेदमें 'उरुगाय', 'उरुक्रम' आदि नामोंसे अभिहित किये जाते हैं और इसीलिये पुराण उन्हें 'त्रिविक्रम' (तीन डग भरनेवाला) की संज्ञासे पुकारता है। भगवान् विष्णुका परमपद—सबसे श्रेष्ठ स्थान है। विष्णुके परमपदमें मधुका उत्स (झरना) है—**'विष्णोः पदे परमे मध्व उत्स।'** (वही मन्त्र ५)। 'मधु' यहाँ उपलक्षण है—स्वादिष्ट तथा माधुर्यमय वस्तुओंका। ऋग्वेदका यह मन्त्र उस परमपदकी विलक्षणताका संकेत देते हुए कहता है कि वहाँपर प्रभूतशृङ्गोंसे युक्त (भूरिशृङ्गा) तथा शीघ्रगामिनी चञ्चल (अयासः) गौओंका निवास है। वह निरन्तर समधिक प्रकाशमान लोक है, जो इस भूतलके ऊपर सर्वदा चमकता रहता है—

ता वां वास्तून्युश्मसि गमध्यै
यत्र गावो भूरिशृङ्गा अयासः।
अत्राह तदुरुगायस्य विष्णोः
परमं पदमव भाति भूरि ॥

(ऋग्वेद १ । १५४ । ६)

यह मन्त्र स्वयं प्रतीकात्मक है। 'गौ' शब्द सूर्यकी रश्मियोंका वाचक है। किरणोंकी चञ्चलताके विषयमें कहना ही व्यर्थ है। वे कितनी तेजीसे इस भूतलपर विचरण करती हैं। रश्मियोंका परस्पर संघर्षजन्य विकिरण यहाँ 'भूरिशृङ्गा' शब्दका द्योत्य तात्पर्य है। फलतः विष्णुका परमपद सूर्य-रश्मियोंकी अभिव्यक्तिका स्थान है, जहाँ वे एक-दूसरेके साथ टक्कर खाकर विभिन्न दिशाओंमें अपनेको बिखेरती रहती हैं। यह तो सामान्यरूपसे प्रतीत अर्थ है, परंतु तथ्य यह है कि भगवान्का यह स्थान चन्द्र, सूर्य तथा अग्निके नियन्त्रणसे ऊपर है।

श्रीमद्भगवद्गीतामें भगवान्के परमधामका वर्णन है—**'तद्धाम परमं मम।'** (८ । २१,१५ । १६)इस धामकी विशिष्टता है कि इसमें प्रवेश होता है, परंतु इससे प्रत्यावर्तन नहीं होता। इसीलिये इसी वैशिष्ट्यके कारण गीता कहती है—**'यद् गत्वा न निवर्तन्ते'**। इससे सिद्ध होता है कि यह एक अवस्था-विशेष है, जिसमें निरोध होनेपर व्युत्थान नहीं है। फलतः यह सदा-सर्वदा समाधिकी दशा है, जिससे कथमपि व्युत्थान होता ही नहीं। इस दशाको ही शैव दार्शनिक ग्रन्थ 'प्रत्यभिज्ञा हृदय'में 'नित्योदित समाधि' की संज्ञा दी गयी है। योगकी यह चरमावस्थाका नाम है। यह धर्ममेघ समाधिकी अवस्था है। बुद्धधर्ममें भी इसका प्रातिनिध्य है। बोधिसत्त्वकी वहाँ दस भूमियाँ निर्दिष्ट की गयी हैं, उनमें दसवीं अर्थात् अन्तिम भूमिका यह द्योतक है। अद्वैत वेदान्तियोंके सम्प्रदायमें अस्पर्शयोग भी इस दशाके समान दशाका प्रतिपादक योग है। योगदृष्टिसे यही है—'विष्णुका परमपद'।

वैष्णवमतके, विशेषतः श्रीवैष्णवमतके अनुसार भगवान्की दो विभूतियाँ हैं—एकपाद्-विभूति तथा त्रिपाद्-विभूति। इस विभूतिद्वयका संकेत ऋग्वेदके प्रसिद्ध पुरुष-सूक्तमें उपलब्ध होता है, जिसमें पुरुषके त्रिपादके ऊर्ध्वगमन तथा एकपादके अधोऽवस्थानका स्पष्ट उल्लेख मिलता है इस मन्त्रमें—

'त्रिपादूर्ध्व उदैत् पुरुषः पादोऽस्येहाभवत् पुनः।'

(ऋग्वेद १० । ९० । ४)

त्रिपाद्विभूतिके ही अन्तर्गत विष्णुके परमपदकी स्थिति है। एकपाद लीलाविभूति है भगवान्की और त्रिपाद है—नित्यविभूति। अनन्तकोटि ब्रह्माण्डसे समन्वित प्रकृति एक-पाद्विभूतिके अन्तर्गत है। बीचमें जो व्यवधान है, उसीका नाम 'विरजा' है। यह विरजा लोकालोकपर्वतके उस पार विराजमान है। पौराणिक कल्पनानुसार सप्तद्वीपा वसुमतीका अन्तिम द्वीप पुष्करद्वीप है, जो स्वादु जलवाले समुद्रद्वारा वेष्टित है। इसी स्वादिष्ट जलात्मक समुद्रसे आगे लोकालोक पर्वतकी स्थिति है, जो इस सम्पूर्ण ब्रह्माण्डको वेष्टितकर

अवस्थित है। इस पर्वतके इधर तो प्रकाशकी सत्ता है और उधर अन्धतामिस्र घोर अन्धकारका साम्राज्य है। प्रकाश-वाले पक्षसे वह दृष्टिगोचर होता है (**लोक्यते इति लोकः**) और अन्धकारवाले पक्षसे वह दृष्टिगोचर ही नहीं है, फलतः वह 'अलोक' भी है (**न लोक्यते इति अलोकः**)। इसी द्विविध परिस्थितिके कारण वह यथार्थनामा 'लोकालोक' पर्वत है। कालिदासने यज्ञ करनेसे प्रसन्नचित्त होनेवाले (**इज्याविशुद्धात्मा**) तथा अपत्याभावके कारण विषण्ण होने-वाले (**प्रजालोपनिमीलित**) राजा दिलीपकी तुलनाके लिये प्रकाश तथा अप्रकाश होनेवाले लोकालोक पर्वतको चुना है—

सोऽहमिज्याविशुद्धात्मा प्रजालोपनिमीलितः।
प्रकाशश्चाप्रकाशश्च लोकालोक इवाचलः॥
(रघुवंश १। ६८)

महाकवि माघने भी शिशुपालवध (१६। ८३) में सूर्यकी किरणोंको लोकालोक पर्वतके द्वारा व्याहत होकर नहीं फैलनेका निर्देश किया है। यह पर्वत इतना ऊँचा है कि सूर्य-की किरणें इसे पारकर दूसरी ओरके लोकको प्रकाशित ही नहीं कर सकतीं। इसीलिये तो उधर घना अन्धकार है। इस अन्धकारके आगे विरजा नदीकी स्थिति है। पद्मपुराण, उत्तरखण्ड, २५५ अ० के अनुसार विरजा प्रधानलोक, अर्थात् प्राकृतलोक तथा परमलोकके बीचमें विराजमान रहती है—

प्रधानपरमव्योम्नोरन्तरे विरजा नदी॥ ५७॥
वेदाङ्गस्वेदजनिततोयैः प्रस्राविता शुभा।
तस्याः पारे परे व्योम्नि त्रिपाद्भूतं सनातनम्॥ ५८॥

'वेदोंके अङ्ग-स्वेदसे उत्पन्न जलोंसे वह प्रवाहित होती है'—इस वाक्यका तात्पर्य अध्यात्मप्रेमी वैष्णवोंद्वारा विवेचनीय है।

विरजाका ही अपर नाम 'कारणसलिल' है, जो इस ब्रह्माण्डको आच्छादित किये रहता है। श्रीमद्भागवत (१० स्कन्ध ८९ अध्याय) में भगवान् अर्जुनके साथ ब्राह्मणके मृतपुत्रके अन्वेषणके लिये वैष्णवधाममें पधारते हैं। वहाँ इस तथ्यका विस्तृत विवरण है। लोकालोकके अनन्तर गाढ अन्धकारको भगवान् श्रीकृष्ण सुदर्शनके द्वारा दूर करते हैं (१०। ८९। ५१)। तथा वे ऐसे सलिलमें प्रवेश करते हैं जो बलवान् आँधीके कारण भयानक लहरोंसे नितान्त क्षुब्ध होता है—

ततः प्रविष्टः सलिलं नभस्वता
बलीयसैजद् बृहदूर्मिभूषणम्।
(१०। ८९। ५३)

इस सलिलको श्रीधर स्वामी 'कारणवारि'की संज्ञा देते हैं। फलतः भागवतकी यही विरजा नदी है। विरजाके अनन्तर 'परम व्योम' अथवा 'वैकुण्ठलोक' विराजमान रहता है। इस लोकका बड़ा ही विशद विवरण वैष्णव पुराणों-में, विशेषतः पद्मपुराण (उत्तरखण्ड २५५-२५६ अ०) में उपलब्ध होता है। वही है—विष्णुका परमपद, जो अमृत, शाश्वत, नित्य, अनन्त, शुद्ध, सत्त्वमय, दिव्य तथा अक्षर आदि विशेषणोंसे विभूषित किया जाता है। वह अनन्त कोटि सूर्य तथा अग्निके वर्चस्के समान है। वह सर्ववेदमय है—जाग्रत्, स्वप्न आदि दशाओंसे वर्जित तथा सब प्रकारके प्रलयोंसे रहित। वही आनन्दका सागर है, जिसके विषयमें गीता (१५। ६) कहती है—

न तद् भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः।
यद् गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम॥

वह मोक्षरूप है; क्योंकि वहाँ प्रवेश होनेके अनन्तर निवर्तन नहीं है। किसी प्रकारका वहाँ बन्धन नहीं है, अतः वह नित्य आनन्दधाम है। इस विशाल लोकके मध्यमें दिव्य नगरी 'अयोध्या' है, जिसके चार दरवाजे हैं। प्रतिद्वार-पर दो-दो द्वारपालोंसे यह नगरी सुरक्षित है। यह नगरी रमणीय सुन्दर ललनाओंसे विभूषित है। इसके मध्यमें है—एक विशाल मण्डप, जिसके बीचमें सिंहासन विद्यमान है, जिसकी संज्ञा 'योगपीठ' है। इसके मध्यमें स्थित अष्टदल कमलकी कर्णिकामें भगवान् महाविष्णु नित्यानपायिनी महा-लक्ष्मीके साथ सर्वदा लीलामें निरत रहते हैं। मूर्तिकी दोनों ओर भूदेवी तथा लीलादेवी विद्यमान रहती हैं। इस कमलके आठों दल आठों दिशाओंमें फैले हुए हैं, जिसके अग्रभागपर स्थित अष्टमहिषी, या अष्टशक्ति या अष्टगोपियाँ चामरादिसे भगवान्की सेवामें निमग्न रहती हैं, जिन शक्तियोंके नाम हैं—विमला, उत्कर्षिणी, ज्ञाना, क्रिया, योगा, प्रह्वी, सत्या तथा ईशाना। यही है भगवान् श्रीकृष्णका नित्य लीलाधाम, जहाँ वे अष्ट गोपिकाओंसे सेवित श्रीराधारानीके संगमें सदा-सर्वदा लीलारसमें निमग्न रहते हैं। यह अतिप्राकृत लोक है—दिव्य सौन्दर्यका निकेतन तथा आनन्दके कल्लोलका मणिमय धाम। इस वर्णनातीत लोककी एक झलक पुराणोंके

पृष्ठोंमें अपना दर्शन देती है (द्रष्टव्य पद्मपुराण, उत्तरखण्ड, अ० २५६ श्लोक १७–४७)।

यही है 'नित्य वृन्दावन'—जहाँ महारास निरन्तर निरवच्छिन्न बिना किसी व्यवच्छेदके सदा-सर्वदा चलता रहता है और जहाँ रासेश्वरी तथा रासेश्वरकी लोकातीत लीलाकी कथा सुनकर हम साधक अपनेको धन्य मानते हैं। इस भौतिक वृन्दावनमें होनेवाले गोप, गोपी, गोसमुदाय, यमुना, गोवर्धन आदि समस्त लीलोपकरण उस नित्य वृन्दावनके इन उपकरणोंकी एक फीकी आभा उत्पन्न करते हैं—प्रातिनिध्य करते हैं। स्थानाभावसे केवल संकेतमात्र यहाँ किया गया है। जिज्ञासुजन 'महानारायणोपनिषद्' तथा 'गर्गसंहिता'में विशिष्ट विशद विवरण देखनेकी कृपा करें।*

ज्ञान-कर्मसमुच्चय तथा गति-रहस्य

(लेखक—श्रीबाबूरामजी द्विवेदी, एम्० ए०, बी० एड्०, साहित्यरत्न)

श्रीमद्भगवद्गीता भारतीय वाङ्मयमें एक समन्वयमूलक शास्त्र[1] है। इसका मुख्य प्रतिपाद्य विषय ज्ञान-कर्मसमुच्चय या समन्वय है। समुच्चयका व्युत्पत्तिमूलक अर्थ है—(सम्+उद्+चि+अच्) विभिन्न वस्तुओं या मतों—विचारोंका एक क्रियामें अन्वय (समन्वय)।

ज्ञान (ज्ञा भावे ल्युट्), ज्ञान-योग—**'ज्ञानमेव योगः कौशलं ब्रह्मप्राप्त्युपायो वा[2]।'** गीतोक्त ज्ञानयोगको सांख्य[3]-योग, ज्ञाननिष्ठा और संन्यासमार्ग एवं कर्मयोगको निष्काम कर्मयोग, समत्वयोग, बुद्धियोग, तदर्थ कर्म, मदर्थ कर्म, मत्कर्म और कर्मनिष्ठा कहते हैं।

गीता तृतीय अध्यायके आरम्भमें अर्जुनने पूछा— 'हे जनार्दन! यदि आप कर्मकी अपेक्षा बुद्धि (ज्ञान) को श्रेष्ठ मानते हैं तो फिर मुझे युद्धरूपी घोर कर्ममें क्यों लगाते हैं? एक ही साधन बताइये जिसका आश्रय ग्रहणकर मैं आत्म-कल्याण प्राप्त कर सकूँ (गीता ३। १)।' भगवान् श्रीकृष्णने समन्वयात्मक उत्तर देते हुए कहा—'हे अर्जुन! इस संसारमें अधिकारी-भेदसे मेरे द्वारा पहले ही ज्ञानविषयक और कर्मविषयक दो निष्ठाएँ बतायी जा चुकी हैं—सांख्ययोगियोंकी स्थिति ज्ञानयोगसे और कर्मयोगियोंकी कर्मयोगसे (गीता ३। ३)।'

निष्ठा (नि+स्था+अङ्+टाप्) शब्दका अर्थ वह मार्ग, रीति या प्रणाली है, जिसपर चलनेसे अन्तमें मोक्ष मिलता है।[4] गीतोक्त निष्ठा, शब्द-साधनकी अन्तिम स्थिति या मोक्ष-दशाकी परिचायक है। ज्ञान या ज्ञाननिष्ठाकी पूर्णावस्था 'ब्रह्मात्मैक्य स्थिति' है और कर्मयोग या कर्मनिष्ठाकी अन्तिम—अत्युत्तम स्थिति 'ब्राह्मी स्थिति' है।

उक्त दोनों स्थितियोंमें गतिका रहस्य अन्तर्निहित है। 'अनेक जन्मोंके अनन्तर ज्ञानवान् (ज्ञानयोगी), यह अनुभव हो जानेपर कि 'विश्वब्रह्माण्डमें जो कुछ है सब 'वासुदेव' ही है', भगवान्को प्राप्त कर लेता है। अर्थात् परमगति—परमानन्दमें लीन हो जाता है (गीता ७। १९)।' कर्मयोगी—कर्ममार्गपर सम्यक् पद-विन्यास करनेवाला निष्काम कर्मयोगी ब्राह्मी स्थितिमें पहुँचकर फिर मोहमें नहीं फँसता। अन्तकालमें भी (मृत्युके समय) इस स्थितिमें रहकर आत्यन्तिक सुखरूप ब्रह्मको प्राप्त हो जाता है (गीता २। ७२)।'

गीतोक्त भगवद्वचनसे ही सिद्ध होता है कि ज्ञाननिष्ठा और कर्मनिष्ठा दोनों स्वतन्त्र हैं। कोई किसीका अङ्ग या पूरक नहीं। दोनों निष्ठाओंका अन्तिम लक्ष्य भगवत्प्राप्ति है। (गीता ५। ५)

---

* श्रीउपनिषद् ब्रह्मयोगीकी व्याख्याके साथ 'वैष्णव-उपनिषदः' वाले खण्डमें 'महानारायणोपनिषद्'का सुन्दर सं० प्रकाशित है (अड्यार पुस्तकालय, मद्रास, १९२३) तथा 'गर्गसंहिता'का एक विशद सं० संस्कृत विश्वविद्यालय (वाराणसी, १८८० शकाब्द) से प्रकाशित है।

१. गीताशास्त्रमिदं पुण्यं यः पठेत् प्रयतः पुमान्। विष्णोः पदमवाप्नोति भयशोकादिवर्जितः॥ (गीतामाहात्म्य १)

२. शब्दस्तोम-महानिधि (तारानाथ भट्टाचार्य) पृष्ठ १८६।

३. संख्या बुद्धिः ,तद्युक्ताः सांख्याः (संख्या बुद्धिको कहते हैं जो उससे युक्त हैं, वे सांख्य हैं)। (गीता श्रीरामानुजभाष्य पृष्ठ ९४)

४. गीतारहस्य अथवा कर्मयोगशास्त्र (पृष्ठ ६८०)।

गीतोक्त समुच्चय-सिद्धान्त

सम समुच्चय
(क) (ज्ञान-कर्म समान)

एकं सांख्यं च योगं च
यः पश्यति स पश्यति ।
(गीता ५ । ५)

समसमुच्चय (ज्ञान-कर्म समान)—ईशावास्योपनिषद्के एक मन्त्र (१४)से गीतोक्त ज्ञान-कर्मसमुच्चय (ज्ञान और कर्मकी समानता) की पुष्टि होती है । यहाँपर ज्ञान और कर्म दोनोंके तत्त्वको एक साथ भलीभाँति समझनेका फल स्पष्ट शब्दोंमें बताया गया है—'जिसने विद्या (ज्ञान) और अविद्या (कर्म) के यथार्थ अनुष्ठानको एक दूसरीके साथ जान लिया, वह अविद्या (कर्मों) द्वारा मृत्यु अर्थात् नाशवान् संसारको भलीभाँति पार कर विद्या (ब्रह्मज्ञान) द्वारा अमृतत्वको प्राप्त कर लेता है ।' इस उपनिषद्के अन्यान्य मन्त्रोंसे भी ज्ञानकर्मसमुच्चयकी पुष्टि होती है ।

तैत्तिरीयोपनिषद्में तप और स्वाध्याय-प्रवचन आदिका जो आचरण विधेय बताया गया है, वह भी ज्ञानकर्म-समुच्चयके उक्त सिद्धान्तको ध्यानमें रखकर ही ।[५] महाभारतके नारायणीय अथवा भागवतधर्मके निरूपणमें सांख्य (ज्ञान) और कर्म (कर्मयोग) दोनों निष्ठाओंका समुच्चय (समन्वय) निवृत्ति और प्रवृत्ति-समुच्चयके रूपमें इङ्गित है । भगवान्ने दोनों निष्ठाओंको सृष्टिके आरम्भमें उत्पन्न किया था । (शान्ति० २४१ । ६)

हारीतस्मृति (७ । ११)में ज्ञान-कर्म-सम-समुच्चयसम्बन्धी विचार इस प्रकार व्यक्त किया गया है कि 'जैसे पक्षियोंकी गति दोनों पंखोंके योगसे होती है, वैसे ही ज्ञान, कर्म दोनोंसे शाश्वत ब्रह्मकी प्राप्ति होती है ।' योगवासिष्ठमें हारीत-स्मृत्युक्त समुच्चय-सिद्धान्त अगस्त्यमुनि और उनके शिष्य सुतीक्ष्णके संवादमें अत्यन्त स्पष्ट लक्षित होता है । सुतीक्ष्णके पूछे जानेपर कि 'मोक्ष कैसे मिलता है ? केवल ज्ञानसे या केवल कर्मसे या दोनोंके समुच्चयसे ?' उत्तरमें उक्त पक्षीका

विषम समुच्चय
(ख) (ज्ञान प्रधान, कर्म अप्रधान)

सर्वं कर्माखिलं पार्थ
ज्ञाने परिसमाप्यते ।
(गीता ४ । ३३)

विषम समुच्चय
(ग) (कर्म प्रधान, ज्ञान अप्रधान)

तयोस्तु कर्मसंन्यासात्
कर्मयोगो विशिष्यते ।
(गीता ५ । २)

उदाहरण देकर अगस्त्यजीने यह बताया है कि 'जैसे आकाशमें पक्षीकी गति दोनों पंखोंसे ही होती है, वैसे ही ज्ञान और कर्म दोनोंके मेलसे ही मोक्ष मिलता है । केवल एकसे यह सिद्धि नहीं मिल सकती ।'

मनुस्मृति (१२ । १०४)में मनुजी कहते हैं—'तप और विद्या (कर्म और ज्ञान) दोनों मोक्षदायक हैं—तप (कर्म) से दोष (पाप) नष्ट होते हैं और विद्या (ज्ञान) से अमृत (मोक्ष) मिलता है ।' भगवद्गीताका ज्ञान-कर्म-समुच्चय-सिद्धान्त अत्यन्त समन्वयात्मक, व्यावहारिक और सार्वकालिक है । उपनिषदोंके उक्त समुच्चयको अपने प्रिय भक्त अर्जुनके माध्यमसे सामान्योन्मुख करते हुए भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—'कर्मोंका संन्यास (मन-इन्द्रियों और शरीरद्वारा होनेवाले सम्पूर्ण कर्मोंमें कर्तापनका त्याग) एवं निष्कामकर्मयोग (समत्वबुद्धिसे भगवदर्थ कर्मोंका पालन)—ये दोनों ही मार्ग निःश्रेयस्कर (कल्याणकारक) हैं (गीता ५ । २) ।'

गीतोक्त ज्ञान-कर्म-समुच्चयका चरम विकास 'ब्राह्मी-स्थिति' या 'कैवल्य परम पद' है, जहाँपर सांख्य (ज्ञान-) योगी 'अनेक जन्मोंके पश्चात्' (गीता ७ । १९) सो भी, कृपाणकी धारपर चलकर पहुँचता है, वहीं निष्काम कर्मयोगी **'योगः कर्मसु कौशलम्'** (गीता २ । ५०-५१) की स्थितिमें विचरता हुआ जन्मरूप बन्धनसे मुक्त होकर जाता है । तात्पर्य यह है कि गीतामें वर्णित ज्ञानयोगनिष्ठा और कर्मयोगनिष्ठा दोनों ही अन्तिम रूपमें मोक्षदायक हैं । शास्त्रोक्त कर्मोंके द्वारा ईश्वरका पूर्ण ज्ञान हो जानेपर अन्तमें वैराग्य-पूर्वक समस्त कर्मोंका त्याग करके केवल ज्ञानमें स्थित

५. तपश्च स्वाध्यायप्रवचने च·····(शास्त्राध्ययनसे ही मनुष्यको स्वकर्तव्य, उसकी विधि तथा फलका ज्ञान होता है ।) (तै० उ० १ । ९)

६. ग्यान पंथ कृपान कै धारा । परत खगेस होइ नहिं बारा ॥
जो निर्बिघ्न पंथ निर्बहई । सो कैवल्य परम पद लहई ॥
(रा० च० मा० उ० काण्ड ११८ । १)

रहना 'ज्ञाननिष्ठा' या 'सांख्ययोगनिष्ठा' है। इसीको संन्यासमार्गियोंके मतानुसार 'सांख्य' या 'स्मार्तमार्ग' कहते हैं।

आरम्भमें चित्त-शुद्धिके निमित्त और परमेश्वरका ज्ञान प्राप्त हो जानेपर फिर केवल लोकसंग्रहार्थ निष्काम कर्म करते जाना ज्ञान-कर्मसमुच्चय, कर्मयोग या भागवत-मार्ग है।[७]

कर्म-दृष्टिसे उक्त दोनों मार्ग एक-से अर्थात् ज्ञान-कर्म-समुच्चयात्मक या प्रवृत्ति-प्रधान होते हैं। अनुगीताके अनुसार योग प्रवृत्ति-प्रधान और ज्ञान संन्यास या निवृत्ति-प्रधान है।[८] गीतोक्त 'योग' समत्व-योग है। आसक्तिरहित हो, सिद्धि-असिद्धिमें समान-बुद्धि रखकर योगमें स्थित हुआ कर्मोंको करते जाना ही 'समत्व योग' है। (गीता २। ४८)

'संयोगं योगमित्याहुर्जीवात्मपरमात्मनोः।'

(शब्दस्तोममहानिधि; पृष्ठ ३५१)

'जीवात्मा-परमात्माके संयोगको ही योग कहते हैं। यह योग ही गीताका प्रतिपाद्य विषय है। यही निवृत्ति-मूलक होनेके कारण ज्ञानयोग और प्रवृत्ति-मूलक होनेसे कर्म (निष्काम कर्म-) योग अथच ज्ञान-कर्मसमुच्चय है।

'नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।'

(४। ३८)

'ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति।'

(४। ३९)

—आदि गीतोक्त भगवद्वाक्योंका आश्रय लेते हुए ज्ञान-योगी ज्ञानको ही साध्य और कर्मको इस (सांख्य) का पूर्वाङ्ग (साधन) मानते हैं। इसके विपरीत—

'तयोस्तु कर्मसंन्यासात् कर्मयोगो विशिष्यते।'

(५। २)

'नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः।'

(३। ८)

—आदि वचनोंके आधारपर निष्काम-कर्मयोगी कर्म-निष्ठाको ही परम प्राप्तव्य (साध्य) और ज्ञानको साधन या पूर्वाङ्ग मानते हैं; परंतु भगवान् श्रीकृष्णके निम्नाङ्कित ज्ञान-कर्म-समुच्चयात्मक (समन्वयात्मक) कथनसे ही सिद्ध होता है कि संन्यास-मार्गियों (सांख्ययोगियों) और कर्म-योगियोंके उक्त विरोधात्मक विचार समीचीन नहीं हैं। 'संन्यास और निष्काम कर्मयोग दोनों वस्तुतः एक ही हैं—मूर्खलोग उन्हें अलग-अलग फलवाले मानते हैं न कि पण्डित-लोग; क्योंकि दोनोंमेंसे किसी एक निष्ठामें भलीभाँति स्थित पुरुष दोनोंके लक्ष्य (फल) रूप परमात्माको प्राप्त कर लेता है (गीता ५। ४)।'

'ज्ञानयोगियोंद्वारा जो परमानन्द (मोक्ष) प्राप्तव्य है, निष्काम कर्मयोगियोंद्वारा भी वही प्राप्त किया जाता है; अर्थात् जिस परमगतिको सांख्ययोगी उपलब्ध करते हैं, उसीको कर्मयोगी भी पाते हैं; अतः जो पुरुष दोनों (सांख्य और योग) को वस्तुतः एक ही समझता है, वही यथार्थको जानता है।' (गीता ५। ५) ईशावास्योपनिषद्के नौवें मन्त्रसे गीतोक्त समुच्चय (ज्ञान-कर्म-समता) की पुष्टि होती है। मन्त्रमें कहा गया है कि 'निरी अविद्या (कर्म) का सेवन करनेवाले पुरुष अन्धकारमें घूमते हैं और कोरी विद्या (ब्रह्मज्ञान) में मग्न रहनेवाले उससे भी अधिक अन्धकारमें गिरते हैं।' मनुने (मनुस्मृति १। ९७) भी कहा है कि 'कर्तृत्व (निष्काम कर्म) और ब्रह्म-ज्ञान (ज्ञानयोग) का योग ही सर्वोत्तम सर्वदेशीय सिद्धान्त है। निरा कर्तृत्व या कोरा ब्रह्म-ज्ञान एकदेशीय है।'

विषम समुच्चय (ज्ञान प्रधान, कर्म अप्रधान)

श्रीमद्भगवद्गीतामें यद्यपि ज्ञान-कर्म-समुच्चयात्मक दृष्टि-कोणकी प्रधानता सर्वत्र लक्षित होती है, तथापि उसमें यत्र-तत्र विषम-समुच्चय, अर्थात् ज्ञानकी प्रधानता एवं कर्मकी अप्रधानताके संकेत भी मिलते हैं। कतिपय उपनिषदोंके कुछ मन्त्रोंमें, महाभारत, भागवत आदि शास्त्रोंमें भी उक्त भावको प्रदर्शित करनेवाले श्लोक मिलते हैं।

ईशावास्यके शांकरभाष्यके चौदहवें मन्त्रमें प्रकारान्तरसे विद्या (ज्ञान या ज्ञानयोग) को प्रधान और अविद्या (कर्म या कर्मयोग) को अप्रधान कहा गया है—

'अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते।'

'अविद्या (कर्मानुष्ठान) से तो मनुष्य मृत्युरूप संसारसे तरता भर है; परंतु विद्या (ज्ञान) के द्वारा वह अमृतत्वको प्राप्त कर लेता है।' भगवान् शंकराचार्यके—**'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः।' सूत्रके अनुसार ज्ञानके बिना मुक्ति असम्भव है। मुक्तिका विषय ब्रह्म ही एकमात्र सत्य वस्तु है। जगत् मिथ्या**

७. गीतारहस्य या कर्मयोगशास्त्र, पृष्ठ ३५८।

८. प्रवृत्तिलक्षणो योगो ज्ञानं संन्यासलक्षणम्।

(म० भा०, आश्व० ४३। २९)

है।[९] 'निष्क्रिय आत्माकी प्राप्तिके लिये मनुष्यको कर्मपाशसे अलग—निष्क्रिय—कर्मरहित हो जाना चाहिये। ज्ञान होनेपर संन्यास ले लेना चाहिये। कर्म नहीं करना चाहिये; क्योंकि ज्ञान-कर्मका समुच्चय कभी भी न्याय्य नहीं।'[१०]

उत्तर गीता (१। २३)में प्रसंगानुसार ज्ञानको प्रधान और कर्मको अप्रधान कहा गया है—'ज्ञानरूपी अमृत पीकर कृतकृत्य हो जानेवाले पुरुषका फिर आगे कोई कर्तव्य नहीं रह जाता और यदि रह जाय तो वह तत्त्वविद् (ज्ञानी) नहीं है।' ज्ञानयोगीका लक्षण बताते हुए श्रीशंकराचार्यने कहा है कि 'सर्वकर्तव्यताहानिः।' ब्रह्मज्ञानी पुरुषका तो मुख्य अलंकार (शोभा) ही है।'[११]

महाभारतके शुकानुशासनके शुकानुप्रश्न-प्रसंगमें ज्ञानप्रधान संन्यासमार्गका ही प्रतिपादन है। वहाँ शुकने व्यासजीसे पूछा है कि 'वेद कर्म करनेके लिये भी आदेश देते हैं और कर्म त्यागनेके लिये भी कहते हैं। मुझे बतलाइये, विद्या अर्थात् कर्मरहित ज्ञानसे और केवल कर्मसे कौन-सी गति मिलती है।'[१२] इसके उत्तरमें व्यासजीने कहा है—'कर्मसे प्राणी बँध जाता है और विद्या (ज्ञान) से मुक्त हो जाता है; अतएव पारदर्शी यति (ज्ञानयोगी) या संन्यासी कर्म नहीं करते।'[१३]

उपनिषत्कार और बादरायणाचार्यकी ज्ञानमार्गीय विचारधाराके अनुसार यज्ञ-यागादि कर्म गौण हैं। अतः उन्होंने दृढ़तापूर्वक इस सिद्धान्तका समर्थन किया है कि मोक्षकी प्राप्ति ज्ञानसे ही होती है। ज्ञानके अतिरिक्त और किसी साधनसे मोक्षकी प्राप्ति असम्भव है।[१४]

भगवद्गीताके अन्यान्य स्थलोंपर ज्ञानकी प्रधानता और कर्मकी अप्रधानताका उल्लेख मिलता है। कर्मयोग नामक तृतीय अध्यायमें ही भगवान् श्रीकृष्णने कहा है कि 'जो मनुष्य आत्मामें ही प्रीतिवाला है, आत्मामें ही तृप्त तथा आत्मामें ही संतुष्ट है, उसके लिये कोई कर्तव्य (कर्म) नहीं रह जाता (गीता ३। १७)।'

'ज्ञानकर्मसंन्यासयोग' नामक चतुर्थ अध्यायमें योगी (ज्ञानयोगी) महात्मा पुरुषोंके आचरण और उनकी महिमा बताते हुए भगवान् कहते हैं—'जिसके सम्पूर्ण कर्म कामना और संकल्पसे रहित हैं, ज्ञानरूपी अग्निमें जिसके सभी कर्म भस्म हो चुके हैं, उस पुरुषको ज्ञानीजन पण्डित कहते हैं (गीता ४। १९)।'

आगे फिर ज्ञानकी महिमा बतलाते हुए भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—'हे परंतप! सांसारिक वस्तुओंसे सिद्ध होनेवाले यज्ञसे ज्ञानयज्ञ श्रेष्ठ है; क्योंकि समस्त कर्म ज्ञानमें ही समाप्त होते हैं, अर्थात् ज्ञान ही उनकी पराकाष्ठा है (गीता ४। ३३)।' 'योगके द्वारा त्यागे हुए (ज्ञानाकार बनाये हुए) कर्मोंवाले ज्ञानके प्रभावसे नष्ट संशयवाले आत्मवान् पुरुषको कर्म नहीं बाँधते (गीता ४। ४१)।'

'श्रद्धावान्, ज्ञानमार्गमें तत्पर, जितेन्द्रिय पुरुष ज्ञान प्राप्त करके शीघ्र ही ब्रह्मप्राप्तिरूप परम शान्तिको पा जाता है (गीता ४। ३९)।'

महाभारतके अनुगीता-प्रसंगमें ज्ञानी (संन्यासी) के लिये भगवान्‌का आदेश है कि 'जितने भी कामना और हिंसासे युक्त कर्म हैं, लोकसंग्रहात्मक कर्म हैं, उनका न स्वयं अनुष्ठान करे न दूसरेसे कराये।'[१५] 'पुरुष ज्ञानमय है, कर्ममय नहीं; अतः कोई पारदर्शी (ज्ञानी) कर्मोंमें आसक्त नहीं होते। पुरुष (आत्मा) ज्ञानस्वरूप है, कर्मस्वरूप नहीं।'[१६]

---

९. श्लोकार्धेन प्रवक्ष्यामि यदुक्तं ग्रन्थकोटिभिः।
ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः॥
(शंकराचार्य)

१०. गीतारहस्य अथवा कर्मयोगशास्त्र—पृष्ठ ३७८।

११. अलंकारो ह्ययमस्माकं यद् ब्रह्मात्मावगतौ सत्यां सर्वकर्तव्यताहानिः।
(वेदान्तसूत्र, शांकरभाष्य १। १। ४)

१२. यदिदं वेदवचनं कुरु कर्म त्यजेति च।
कां दिशं विद्यया यान्ति कां च गच्छन्ति कर्मणा॥
(महा० शान्ति० २४१। १)

१३. कर्मणा बध्यते जन्तुर्विद्यया तु प्रमुच्यते।
तस्मात् कर्म न कुर्वन्ति यतयः पारदर्शिनः॥
(महा० शान्ति० २४१। ७)

१४. पुरुषार्थोऽतः शब्दादिति बादरायणः।
(वेदान्तसूत्र, वेदान्तदर्शन ३। ४। १)

१५. आशीर्युक्तानि सर्वाणि हिंसायुक्तानि यानि च।
लोकसंग्रहधर्मं च नैव कुर्यान्न कारयेत्॥
(महा०, आश्व०, अनु० ४६। ३९)

१६. तस्मात् कर्मसु निःस्नेहा ये केचित् पारदर्शिनः।
विद्यामयोऽयं पुरुषो न तु कर्ममयः स्मृतः॥
(महा०, आश्व०, अनु० ५१। ३२)

विषम समुच्चय (कर्म प्रधान, ज्ञान अप्रधान)

जैसे वेदों, उपनिषदोंसे लेकर महाभारत, श्रीमद्भगवद्गीता, श्रीमद्भागवत और स्मृतियोंमें विषम समुच्चयकी पहली अवस्था—ज्ञानकी प्रधानता और कर्मकी अप्रधानताके अनेक प्रमाण मिलते हैं, वैसे ही उक्त समुच्चयकी दूसरी अवस्था—कर्मकी प्रधानता और ज्ञानकी अप्रधानताके भी असंख्य उदाहरण प्राप्त होते हैं।

ऋग्वेद, यजुर्वेद आदि सूक्तियोंमें कर्मका रहस्य निहित है। ऋषि भगवान्‌से प्रार्थना करते हैं कि 'हे प्रभो! हम लोगोंमें सुख और कल्याणमय उत्तम संकल्प, ज्ञान एवं कर्मको धारण कराओ।'[१७] 'मनुष्य इस संसारमें कर्म करता हुआ ही सौ वर्ष जीनेकी इच्छा करे।'[१८] यद्यपि उपनिषत्कार कर्मको गौण मानते हैं, कर्मोंको वैराग्यद्वारा त्यागनेका आदेश देते हैं, तथापि मानव-जीवनमें कर्मका महत्त्व स्वीकार करते हुए ईशावास्योपनिषद्‌में कहा गया है कि 'शास्त्रविहित कर्तव्य-कर्मोंका आचरण करते हुए सौ वर्षतक जीवित रहनेकी अभिलाषा करनी चाहिये। ऐसा समझो कि शास्त्रोक्त स्वकर्मका पालन करना ईश्वरकी पूजा है। इस प्रकार कर्म करते हुए कर्मोंमें लिप्त न होनेका यही एकमात्र मार्ग है। इसके अतिरिक्त कर्मबन्धनसे मुक्त होनेका अन्य कोई भी मार्ग नहीं है।'[१९]

महाभारत (शान्तिपर्व २४१ । ७) में जहाँ उल्लेख है कि पारदर्शी यति (संन्यासी) कर्म नहीं करते—

तस्मात् कर्म न कुर्वन्ति यतयः पारदर्शिनः ।

वहाँ अनुगीता-प्रसंगमें उल्लेख है कि कुछ पारदर्शी यति कर्ममें आसक्ति नहीं रखते—

तस्मात् कर्मसु निःस्नेहा ये केचित् पारदर्शिनः ।

(महाभारत आश्व० ५१ । ३२)

इसी प्रकरणमें कर्मयोगका महत्त्व बताते हुए कहा गया है कि 'जो ज्ञानी पुरुष श्रद्धासे फलाशात्यागपूर्वक योगमार्गका अवलम्बन करके कर्म करते हैं, वे पारदर्शी हैं (आश्व० ५० । ६)।' महाभारत, शान्तिपर्व (२३८ । १) के शुकानुप्रश्न-प्रसंगमें व्यासजीने शुकसे कहा है—'ब्राह्मणकी पुरानी वृत्ति यही है कि ज्ञानवान् होकर सब कर्म करके सिद्धि प्राप्त करें।'

श्रीमद्भगवद्गीताका तो मुख्य प्रतिपाद्य विषय ही है—निष्काम कर्मयोग। इसी तत्त्वने गीताको 'उपनिषदोंका पिष्टपेषण' होनेसे बचाया है। उसके सार्वभौम एवं सार्वकालिक महत्त्वको अक्षुण्ण रक्खा है। द्वितीय अध्यायके निष्काम कर्मयोग-प्रसंगमें भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—'हे धनंजय! आसक्तिरहित हो, कर्मकी सिद्धि-असिद्धिको समान मानकर, योगस्थ होकर कर्मका पालन करो। कर्म करनेमें सफलता मिले या निष्फलता, दोनोंमें समताकी जो मनोवृत्ति होती है, उसे ही योग (कर्मयोग) कहते हैं (गीता २ । ४८)।'

'कर्मयोग' नामक तृतीय अध्यायमें भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनकी शङ्काका समाधान करते हुए कहा है कि 'कोई पुरुष कर्मोंका आरम्भ न करनेसे ही निष्कर्मता (ज्ञाननिष्ठा), अर्थात् कर्मके अकर्मरूपमें परिणत हो जानेकी स्थितिको नहीं प्राप्त होता और न कर्मोंके त्यागमात्रसे भगवत्साक्षात्काररूप सिद्धिको प्राप्त होता है (गीता ३ । ४)।' 'हे अर्जुन! जो पुरुष इन्द्रियोंको वशमें करके अनासक्त-बुद्धिसे कर्मेन्द्रियोंद्वारा कर्मयोगका आचरण करता है, वह श्रेष्ठ है (गीता ३ । ७)।' 'शास्त्रविधिसे नियत किये हुए कर्मोंका पालन करो; क्योंकि कर्म न करनेकी अपेक्षा कर्म करना श्रेष्ठ है (गीता ३ । ८)।' 'जो मनुष्य दोषबुद्धिसे रहित एवं श्रद्धालु बनकर मेरे मतके अनुसार आचरण करते हैं, वे कर्म-बन्धनसे छूट जाते हैं (गीता ३ । ३१)।'

गीताके चतुर्थ अध्यायके 'योगी महात्मा पुरुषोंके वर्णन-प्रसंग' में 'त्यागसे भगवत्प्राप्ति' अर्थात् कर्मफल-त्यागसे परम

---

१७. ऋग्वेद ('हिंदू-संस्कृति अङ्क' वैदिक सूक्तियाँ) १ । १२३ । १३

१८. यजुर्वेद (" " ") ४० । २

१९. कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳ समाः ।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ।'
(ईश० मन्त्र २)

सिद्धिकी उपलब्धिका रहस्य बतलाते हुए श्रीकृष्ण कहते हैं कि 'कर्मकी आसक्ति छोड़कर जो सदा परमात्मामें तृप्त है, वह कर्मोंके फल और संग (कर्तृत्वाभिमान) को त्यागकर कर्ममें भलीभाँति बर्तता हुआ भी कुछ नहीं करता (गीता ४ । २०)।'

गीताके पञ्चम अध्यायमें, जिसका नाम 'कर्म-संन्यास-योग' है, अर्जुनके यह पूछनेपर कि 'कर्मोंके संन्यास और कर्मोंके अनुष्ठानमेंसे कौन उत्तम और कल्याणकारी है ? (गीता ५ । १)।' भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—'कर्मसंन्यास और कर्मयोग दोनों श्रेयस्कर हैं, मोक्षदायक हैं। फिर भी कर्मसंन्यासकी अपेक्षा कर्मयोगकी योग्यता विशेष है (गीता ५ । २)।' निष्काम कर्मयोगकी विशेषता बतलाते हुए कहते हैं—'हे अर्जुन ! कर्मयोगके बिना संन्यास अर्थात् मन, इन्द्रियों और शरीरद्वारा सम्पन्न होनेवाले समस्त कर्मोंमें कर्तापनका त्याग कठिन है। परंतु निष्काम कर्मका सम्यक् आचरण करनेवाला कर्मयोगी परब्रह्म परमात्माको शीघ्र ही प्राप्त हो जाता है (गीता ५ । ६)।'

अष्टावक्रगीतामें, जहाँ संन्यासमार्गका प्रतिपादन है, इस प्रसंगकी सुन्दर व्याख्या है। कहा है कि 'अज्ञानियोंकी निवृत्ति (हठ या मोहपूर्वक कर्म-विमुखता) वास्तवमें प्रवृत्ति अर्थात् कर्म है और पण्डितलोगोंकी प्रवृत्ति (निष्काम कर्म) से ही निवृत्ति (कर्मफलत्याग) का फल मिलता है।'[२०]

योगवासिष्ठमें कर्मयोगके महत्त्वको स्वीकार करते हुए कहा गया है कि जीवन्मुक्त ज्ञानी पुरुषको भी कर्म करना चाहिये। जब भगवान् रामने वसिष्ठजीसे पूछा कि 'बताइये, मुक्त पुरुषको कर्म क्यों करना चाहिये ?' तब वसिष्ठने उत्तर दिया कि 'ज्ञानी पुरुषको कर्मत्याग और कर्मसंग्रहसे कोई प्रयोजन नहीं' फिर भी वह जैसा (कर्तव्यकर्म) प्राप्त हो वैसा ही करता है।'[२१] इस ग्रन्थके उपसंहारमें वसिष्ठजी कहते हैं कि 'कोई कर्म करना, न करना मुझे एक-सा लगता है।' परंतु दूसरी ही पंक्तिमें कहते हैं कि 'जब दोनों बातें एक-सी हैं, तब फिर कर्म न करनेका आग्रह ही क्यों है ? जो-जो शास्त्रानुकूल कर्म प्राप्त हो जाय, उसे मैं करता रहता हूँ।'[२२] योगवासिष्ठका उक्त सिद्धान्त गीतानुमोदित है। 'इस जगत्में ज्ञानयोगीको न तो आत्मसाक्षात्कारके लिये तद्विषयक साधनसे कोई लाभ है और न साधन न करनेसे कोई हानि। समस्त भूतोंसे उसका कोई स्वार्थ-सम्बन्ध भी नहीं है तो भी उसके द्वारा लोकसंग्रहार्थ कर्म किये जाते हैं; क्योंकि ज्ञानयोगीको शरीर-यात्राके निमित्त कर्म करना अनिवार्य है। अतः आत्म-साक्षात्कारके किये कर्मयोग ही सब प्रकारसे श्रेष्ठ है।'[२३]

श्रीमद्भागवतके 'उद्धव-गीता' प्रसंगमें निष्काम कर्मयोगको भगवान्ने अपनी विभूति (स्वरूप) बताकर इसकी श्रेष्ठता प्रमाणित कर दी है। उद्धवसे श्रीकृष्णजी कहते हैं—'मैं बलवानोंमें उत्साह तथा पराक्रम हूँ और भगवद्भक्तोंमें भक्तियुक्त निष्काम कर्मयोग हूँ (श्रीमद्भा० ११ । १६ । ३२)।'

गणेशगीतामें भी कर्मसिद्धान्तका प्रतिपादन करते हुए गणेशजी कहते हैं—'उस (ज्ञानी) का अन्य प्राणियोंमें कोई साध्य (प्रयोजन) शेष नहीं रह जाता। अतएव हे राजन् ! लोगोंको अपने-अपने कर्तव्य अनासक्त-बुद्धिसे करते रहना चाहिये ?'[२४] निष्काम कर्मयोग तो साधकके हृदयको सर्वथा निर्दोष बना देता है। फलासक्तिजन्य सभी पापोंको नाम-शेष कर देता है। 'निष्काम कर्मयोगी संसारमें रहता हुआ और सब कुछ करता हुआ भी निर्लिप्त रहता है।'[२५]

---

२०. निवृत्तिरपि मूढस्य प्रवृत्तिरुपजायते।
प्रवृत्तिरपि धीरस्य निवृत्तिफलभागिनी॥
(अष्टावक्रगीता १८ । ६१)

२१. अस्य नार्थः कर्मत्यागैर्नार्थः कर्मसमाश्रयैः।
तेन स्थितं यथा यद्यत्तत्तथैव करोत्यसौ॥
(योगवा०, ६ उ० १९९ । ४)

२२. मम नास्ति कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन।
यथाप्राप्तेन तिष्ठामि ह्यकर्मणि क आग्रहः॥
(योग०, ६ उ० २१६ । १४)

२३. (गीता ३ । १८ श्रीरामानुजभाष्य पृष्ठ १११)

२४. किंचिदस्य न साध्यं स्यात् सर्वजन्तुषु सर्वदा॥
अतोऽसक्ततया भूप कर्तव्यं कर्म जन्तुभिः॥
(गणेशगीता २ । १८-१९)

२५. गीतारहस्य अथवा कर्मयोगशास्त्र (विश्व-कल्याणका मार्ग) (पृष्ठ २०३-२०४)।

(२) समुच्चयकी तीनों अवस्थाओंमें ही देवयान (अर्चिमार्ग)-गतिकी प्राप्ति

ज्ञान-कर्म-समुच्चय और गति-रहस्य

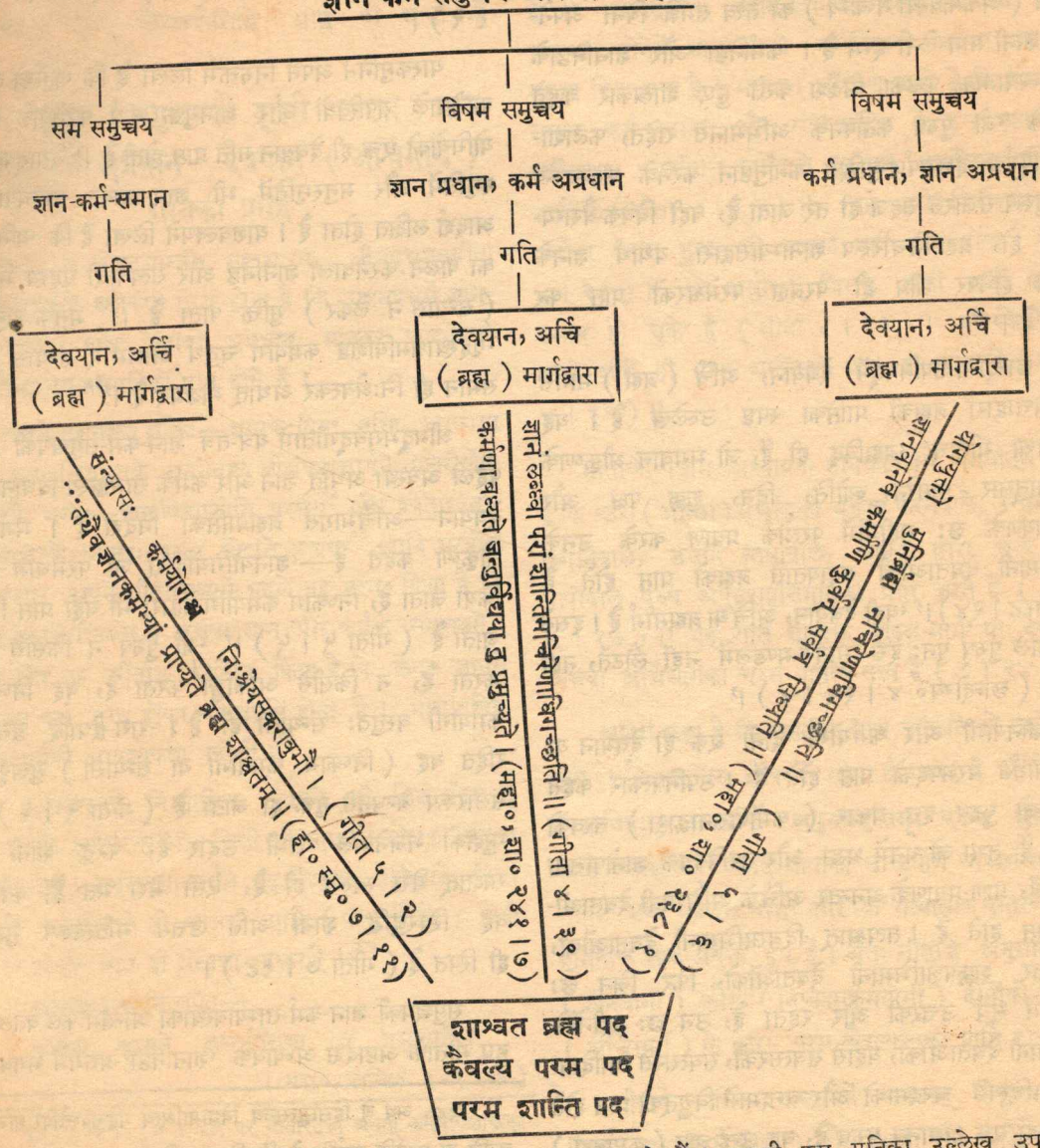
सम समुच्चय
ज्ञान-कर्म-समान
गति
देवयान, अर्चि (ब्रह्म) मार्गद्वारा
विषम समुच्चय
ज्ञान प्रधान, कर्म अप्रधान
गति
देवयान, अर्चि (ब्रह्म) मार्गद्वारा
विषम समुच्चय
कर्म प्रधान, ज्ञान अप्रधान
गति
देवयान, अर्चि (ब्रह्म) मार्गद्वारा
संन्यासः कर्मयोगश्च नि:श्रेयसकरावुभौ। ...तयोस्तु कर्मसंन्यासात् कर्मयोगो विशिष्यते ॥ (गीता ५ । २)
तेनैव ज्ञानकर्मभ्यां प्राप्यते ब्रह्म शाश्वतम् ॥ (हा० स्मृ० ७ । २१)
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति ॥ (गीता ४ । ३९)
कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः । (महा०, शां० २४१ । ७)
शाश्वतीभ्यः समाभ्यस्त्वमात्मयोगकृतोऽमृतत्वमेष्यसि ॥ (ईशा० शां० २)
शाश्वतीभ्यः समाभ्यस्त्वमात्मयोगकृतोऽमृतत्वमेष्यसि ॥ (गीता ५ । ६)
शाश्वत ब्रह्म पद
कैवल्य परम पद
परम शान्ति पद

समुच्चयकी पहली अवस्था (ज्ञान-कर्म-समानता), देवयान (अर्चिमार्ग)-गतिकी प्राप्ति

ज्ञान-कर्मके सामञ्जस्य-विधानद्वारा ज्ञानयोगी और कर्मयोगी देवयान (देवरथे देवैरुपलक्षितं यानं मार्गम् अर्चिरादिमार्गं[२६]) या ब्रह्ममार्गसे प्रयाण करके अमृतत्वको प्राप्त करते हैं। इनकी इस गतिका उल्लेख उपनिषद्, महाभारत, भगवद्गीता, भागवत और योगवासिष्ठ आदि ग्रन्थोंमें पाया जाता है।

ईशावास्योपनिषद्में कर्म (प्रवृत्तिमूलक निष्काम-कर्म) और अकर्म (निवृत्तिमूलक ज्ञान-योग) के विषयमें कहा गया है कि कर्मरहस्यसे अनभिज्ञ ज्ञानाभिमानी पुरुष कर्मको ब्रह्मज्ञानमें बाधक मानते हैं। अतः कर्तव्य-

२६. शब्दस्तोम-महानिधि, पृष्ठ २२२।

कर्मोंका त्याग कर देते हैं; परंतु इस प्रकारके त्यागसे उन्हें कर्मबन्धनसे छुटकारा नहीं मिलता। इसी प्रकार ज्ञान (अकर्मावस्था-नैष्कर्म्य) का तत्त्व समझे बिना अपनेको ज्ञानी मान लेना दम्भ है। कर्मनिष्ठा और ज्ञाननिष्ठाके समन्वयात्मक फलका निर्देश करते हुए शास्त्रकार कहते हैं कि 'जो पुरुष कर्तापनके अभिमानसे रहित, फलाशात्यागपूर्वक ईश्वरार्पण-बुद्धिसे कर्मानुष्ठान करनेके फलस्वरूप मृत्युरूप संसारसे सहज ही तर जाता है, वही विवेक-वैराग्ययुक्त हो, ब्रह्म-विचाररूप ज्ञानाभ्यासद्वारा यथार्थ ज्ञानके उदय होनेपर शीघ्र ही परब्रह्म परमेश्वरको प्राप्त कर लेता है।'[२७]

छान्दोग्य-उपनिषद्में देवयान, अर्चि (ब्रह्म) मार्गसे ब्रह्मवेत्ताद्वारा ब्रह्मकी प्राप्तिका स्पष्ट उल्लेख है। यह ब्रह्मवेत्ता गीतोक्त 'ब्रह्मविद् ही हैं, जो भगवान् श्रीकृष्णके कथनानुसार 'अग्नि, ज्योति, दिन, शुक्ल पक्ष और उत्तरायणके छः महीनोंमें परलोक प्रयाण करके उनके अभिमानी देवताओंकी सहायतासे ब्रह्मको प्राप्त होते हैं (गीता ८। २४)।' 'यही देवयान, अर्चि या ब्रह्ममार्ग है। इससे जानेवाले पुरुष पुनः इस मानव-मण्डलमें नहीं लौटते, नहीं लौटते (छान्दोग्य० ४। १५। ४)।'

ज्ञानयोगी और कर्मयोगी दोनों एक ही देवयान या अर्चिमार्गसे परमपदको प्राप्त होते हैं। उपनिषत्कार कहते हैं—'जो पुरुष इस प्रकार (कर्मोपासनाद्वारा) तत्त्वको जानते हैं तथा जो वनमें श्रद्धा और तपविषयक ज्ञानोपासना करते हैं, प्राण-प्रयाणके अनन्तर अर्चिके अभिमानी देवताओंको प्राप्त होते हैं। तत्पश्चात् दिवसाभिमानी देवताओंको, तदनन्तर शुक्लपक्षाभिमानी देवताओंको, फिर जिन छः महीनोंमें सूर्य उत्तरकी ओर रहता है, उन छः महीनोंके अभिमानी देवताओंको, यहाँसे संवत्सरको, संवत्सरसे आदित्यको, आदित्यसे चन्द्रमाको और चन्द्रमासे विद्युत्को प्राप्त होते हैं। वहाँ एक अमानव पुरुष है, वह उन्हें ब्रह्म (कार्यब्रह्म) को प्राप्त करा देता है। यह देवयानमार्ग है। अर्चिमार्गसे जानेवाले पुरुषकी इस लोकमें तो आवृत्ति नहीं होती, किंतु ब्रह्ममें ही महः, जनः, तपः और सत्यलोक है। साधक अपनी साधनाके प्रभावसे इनमेंसे किसी लोकमें जाता है; फिर वहाँसे ज्ञानद्वारा उत्तरोत्तर उच्च लोकमें विचरण करता हुआ सत्यलोकमें पहुँचकर मुक्त हो जाता है (छान्दोग्य० ५। १०। १-२)।'

यास्कमुनिने अपने निरुक्तमें लिखा है कि 'कर्मका त्याग करनेवाले तपस्वियों और ज्ञानयुक्त कर्म करनेवाले कर्मयोगियोंको एक ही देवयान गति प्राप्त होती है।'[२८] याज्ञवल्क्यस्मृतिमें और मनुस्मृतिमें भी ज्ञान-कर्मका समन्वयात्मक आदर्श लक्षित होता है। याज्ञवल्क्यने लिखा है कि 'यतिधर्मका पालन करनेवाला ज्ञाननिष्ठ और सत्यवादी गृहस्थ भी—(संन्यास न लेकर) मुक्ति पाता है।'[२९] मनुके अनुसार 'गृहस्थाश्रमविशिष्ट कर्मयोग चतुर्थ आश्रम (संन्यास) के समान ही निःश्रेयस्कर अर्थात् मोक्षप्रद है।'[३०]

श्रीमद्भगवद्गीतामें यत्र-तत्र ज्ञान-कर्म-समुच्चयकी उक्त पहली अवस्था अर्थात् ज्ञान और कर्मके सामञ्जस्य-विधानद्वारा देवयान—अर्चिमार्गसे ब्रह्मप्राप्तिका निर्देश है। भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—'ज्ञानयोगियोंद्वारा जो परमधाम प्राप्त किया जाता है, निष्काम कर्मयोगियोंद्वारा भी वही प्राप्त किया जाता है (गीता ५। ५)।' 'जो पुरुष न किसीसे द्वेष करता है, न किसीसे आकाङ्क्षा करता है, वह निष्काम कर्मयोगी वस्तुतः संन्यासी ही है। राग-द्वेषादि द्वन्द्वोंसे रहित वह (निष्काम कर्मयोगी या संन्यासी) सुखपूर्वक संसाररूप बन्धनसे मुक्त हो जाता है (गीता ५। ३)।' 'मुझको भजनेवाले सभी उदार हैं; परंतु ज्ञानी तो साक्षात् मेरा स्वरूप ही है, ऐसा मेरा मत है; क्योंकि वह स्थिरबुद्धि ज्ञानी अति उत्तम गतिस्वरूप मुझमें ही स्थित है (गीता ७। १८)।'

समुच्चयकी ज्ञान-कर्म-साम्यावस्थाका अन्तिम फल बतलाते हुए गीताके अष्टादश अध्यायके 'ज्ञाननिष्ठा'-प्रसंगमें भगवान्

---

२७. विद्यां चाविद्यां च यस्तद् वेदोभयꣳ सह।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते॥
(ईशावास्य० १४)

२८. अथ ये हिंसामुत्सृज्य विद्यामाश्रित्य महत्तपस्तेपिरे ज्ञानोक्तानि वा कर्माणि कुर्वन्ति तेऽर्चिरभिसम्भवन्ति।
(निरुक्तशास्त्रम् १४। ९)

२९. न्यायागतधनस्तत्त्वज्ञाननिष्ठोऽतिथिप्रियः।
श्राद्धकृत् सत्यवादी च गृहस्थोऽपि हि मुच्यते॥
(याज्ञवल्क्यस्मृति ३। २०५)

३०. षण्णामेषां तु सर्वेषां कर्मणां प्रेत्य चेह च।
श्रेयस्करतरं ज्ञेयं सर्वदा कर्म वैदिकम्॥
(मनुस्मृति २। ८६)

श्रीकृष्ण कहते हैं कि 'कहीं भी आसक्ति न रखकर, मनको वशमें करके, निष्काम बुद्धिसे चलनेपर (कर्मफलके) संन्यासद्वारा परम नैष्कर्म्य-सिद्धि प्राप्त हो जाती है (१८ । ४९) ।'[३१]

विषम समुच्चय (समुच्चयकी दूसरी अवस्था) ज्ञान प्रधान, कर्म अप्रधान—देवयान (अर्चिमार्ग)-गतिकी प्राप्ति

कुछ उपनिषद्-मन्त्रों, महाभारत, श्रीमद्भगवद्गीता आदि शास्त्रोंके श्लोकोंसे सिद्ध होता है कि साधनपथमें ज्ञानको प्रधान और कर्मको अप्रधान मानकर चलनेवाले सिद्धात्मा देवयानगतिको प्राप्त होते हैं ।

'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः—ज्ञानके बिना मुक्ति असम्भव है ।' इस सिद्धान्तके माननेवाले श्रीशंकराचार्यने तैत्तिरीयोपनिषद्के मन्त्र—**'ब्रह्मविदाप्नोति परम्'**[३२] और श्वेताश्वतर-उपनिषद्'के **'नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय'**[३३] आदि मन्त्रोंके आधारपर अपने गीताभाष्यमें पहले यह प्रश्न किया है कि मोक्ष ज्ञानसे मिलता है अथवा ज्ञान और कर्मके समुच्चयसे ? और फिर यह गीतार्थ निश्चित किया है कि केवल ज्ञानसे ही सब कर्म दग्ध होकर मोक्षप्राप्ति होती है । मोक्षप्राप्तिके लिये कर्मकी आवश्यकता नहीं है ।[३४]

वेदान्तसूत्रके निम्नाङ्कित कथनसे भी सिद्ध होता है कि ज्ञानके अतिरिक्त और किसी भी साधनसे मोक्षका मिलना शक्य नहीं । बादरायणाचार्यने यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया है कि 'ब्रह्मविद्यासे ही मोक्षकी प्राप्ति (परम सिद्धि) होती है ।' अर्थात् ज्ञान ही मोक्षका साधन है ।'[३५]

व्यासजीद्वारा निरूपित—

कर्मणा बध्यते जन्तुर्विद्यया तु प्रमुच्यते ।

(महा०, शान्ति० २४१ । ७)

—सिद्धान्तसे भी यही निष्कर्ष निकलता है कि 'कर्मसे प्राणी बँध जाता है और विद्या (ज्ञान)से मुक्त हो जाता है ।' भगवद्गीतामें स्थान-स्थानपर देवयान-गतिकी ओर उन्मुख होनेमें ज्ञाननिष्ठाको कर्मनिष्ठाकी अपेक्षा अधिक महत्त्व दिया गया है । भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि 'जिसके समस्त कर्म कामना और संकल्परहित हैं, उस ज्ञानरूपी अग्निद्वारा भस्मीभूत कर्मोंवाले पुरुषको ज्ञानीजन पण्डित कहते हैं (गीता ४ । १९) ।' 'वह शरीर-निर्वाहसम्बन्धी कर्मोंको करता हुआ भी पापको नहीं प्राप्त होता (गीता ४ । २१) ।' 'हे अर्जुन ! जिसके सभी कर्म ज्ञानमें समाप्त हो चुके हैं (गीता ४ । ३३) ।' वह जितेन्द्रिय ज्ञानी शीघ्र ही परम शान्तिको प्राप्त हो जाता है (गीता ४ । ३९) ।'

गीताके, पञ्चम अध्यायके ज्ञानप्रकरणमें भगवान्ने कहा है कि 'उस (आत्मा) में बुद्धिको एकाग्र करनेवाले, उसीमें मन लगानेवाले, उसीमें निष्ठावाले, ज्ञानके द्वारा धुले हुए पापोंवाले पुरुष अपुनरावृत्तिगतिको प्राप्त करते हैं (गीता ५ । १७) ।' यह गति गीतोक्त 'शुक्ल-मार्ग' या देवयान अथवा अर्चिमार्गका चरम प्राप्तव्य तत्त्व है (८ । २४) ।

श्रुतिमें कहा है कि 'ज्ञानीके प्राण उत्क्रान्तिको नहीं प्राप्त होते ।'[३६] 'यहींपर ईश्वरमें लीन हो जाते हैं ।'[३७] परंतु **(ज्ञानिनः) गच्छन्ति अपुनरावृत्तिम्, एकया शुक्लगत्या याति अनावृत्तिम्'** आदि गीताकी उक्तियोंमें 'गच्छन्ति' और 'याति' शब्द क्रमशः 'गम्' और 'या' गत्यात्मक धातुसे निष्पन्न होनेवाले शब्द प्रयुक्त हुए हैं । अतः गीताके अनुसार ज्ञानी (ज्ञानयोगी) और (निष्कामकर्मयोगी) दोनोंको देवयान (अर्चिमार्ग) के द्वारा परम कैवल्यपदकी प्राप्ति होती है ।

गीताके अन्तिम अध्यायमें भगवान् श्रीकृष्ण ज्ञाननिष्ठा (ज्ञानकी परानिष्ठा) और उसका फल सिद्धि (ब्रह्म) की प्राप्तिकी ओर संकेत करते हुए कहते हैं कि 'सर्वत्र अनासक्त बुद्धि रखनेवाला, जितात्मा, आकाङ्क्षारहित पुरुष संन्याससे युक्त होकर परम नैष्कर्म्यसिद्धिको प्राप्त होता है (गीता १८ । ४९-५०) ।'

३१. (गीता १८ । ४९ पर गीतारहस्य अथवा कर्मयोगशास्त्रका भाष्य, पृष्ठ ८९३)

३२. ब्रह्मज्ञानसे मोक्ष प्राप्त होता है । (तैत्तिरीय उ० २ । १)

३३. बिना ज्ञानके मोक्षप्राप्तिका दूसरा मार्ग नहीं है । (श्वे० उ० ३ । ८)

३४. गीतारहस्य अथवा कर्मयोगशास्त्र, पृष्ठ ३२३ ।

३५. पुरुषार्थोऽतः शब्दादिति बादरायणः । (वे० सू० ३ । ४ । १)

३६. न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति । (बृहदारण्यक ४ । ४ । ६)

३७. अत्रैव समवलीयन्ते । (बृहदारण्यक ३ । २ । ११)

विषम समुच्चय (समुच्चयकी तीसरी अवस्था—कर्म प्रधान, ज्ञान अप्रधान) देवयान (अर्चिमार्ग) गतिकी प्राप्ति—

अधिकांश उपनिषद् निवृत्ति अथच ज्ञानप्रधान हैं; परंतु कुछ उपनिषदोंमें प्रवृत्तिप्रधान कर्म (निष्काम कर्म) योगकी प्रधानता भी लक्षित होती है । यजुर्वेदसे और ईशावास्योपनिषद्से कर्मयोगीको कर्म करते हुए सौ वर्षतक जीवित रहनेकी प्रेरणा मिलती है ।[३८] निष्कामभावसे कर्मका आचरण करनेवाला पुरुष कर्मबन्धनमें नहीं पड़ता । कर्माचरण ही कर्मोंमें लिप्त न होनेका एकमात्र मार्ग है ।[३९]

कठोपनिषद् (१ । १ । १७) में निष्काम कर्मयोग ही प्रतिपाद्य है ।[४०] यमराज कहते हैं कि 'ऋक्, यजुः, साम—तीनों वेदोंके तत्त्वरहस्यमें निष्णात होकर, निष्कामभावसे यज्ञ, दान और तप—(शास्त्रोक्त) तीनों कर्मोंको करता हुआ पुरुष मृत्युसे तर जाता है । वह देवयानगति (परम शान्ति) को प्राप्त होता है ।'

श्वेताश्वतर उपनिषद्में भी निष्काम कर्मयोगका महत्त्व बतलाते हुए साधक (कर्मयोगी) के लिये कल्याण-मार्गका निर्देश किया गया है—'जो कर्मयोगी वर्णाश्रम-विहित कर्तव्यकर्मोंको अहंता-ममता-आसक्तिरहित होकर ईश्वरार्पणबुद्धिसे करता है, वह तुरंत ही परमात्माको प्राप्त हो जाता है ।'[४१]

श्रीमद्भगवद्गीतामें कर्मकी प्रधानता और ज्ञानकी अप्रधानताके संकेत प्रायः सर्वत्र मिलते हैं । द्वितीय अध्यायके निष्काम कर्मयोग-प्रसंग-निरूपणमें भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुनको आदेश देते हैं कि हे 'धनंजय ! आसक्तिरहित हो, सिद्धि-असिद्धिमें समत्वबुद्धिवाला होकर योगमें स्थित हुआ कर्मोंको कर; समत्वभाव ही योग है ।' (गीता २ । ४८) 'इस समत्व-बुद्धियोगमें स्थित पुरुष इस लोकमें ही पुण्य-पाप दोनोंको त्याग देता है; अतः समत्वबुद्धियोगके लिये ही चेष्टा कर । यही कर्मोंमें चतुरता है । अर्थात् कर्मबन्धनसे छूटनेका उपाय है (गीता २ । ५०) ।' क्योंकि 'बुद्धियोगयुक्त निष्काम कर्मयोगी कर्मजन्य फलको त्यागकर जन्मरूप-बन्धनसे मुक्त होकर अमृतमय परम पदको प्राप्त होते हैं (गीता २ । ५०-५१)' ।

'कर्मयोग' नामक तृतीय अध्यायमें भगवान् श्रीकृष्णने देवयान-गति (अर्चि या ब्रह्ममार्ग) प्राप्त्यर्थ उक्त 'कर्म-कौशल'को महत्त्व देते हुए कहा है कि 'हे अर्जुन ! अनासक्त-भावसे निरन्तर कर्तव्यकर्मोंका अच्छी प्रकार आचरण कर; क्योंकि अनासक्त पुरुष कर्म करता हुआ परमात्माको प्राप्त होता है (गीता ३ । १९) ।' 'जनकादि ज्ञानीजन आसक्तिरहित कर्मद्वारा ही परम सिद्धिको प्राप्त हुए हैं (गीता ३ । २०) ।'

ज्ञान-कर्म-संन्यासयोग नामक चतुर्थ अध्यायमें 'कर्मसे निष्पन्न होनेवाले यज्ञ (३ । १४) का महत्त्व बतलाते हुए भगवान् कहते हैं—'हे अर्जुन ! यज्ञोंके परिणामरूप ज्ञानामृतका पान करनेवाले योगी (निष्काम कर्मयोगी) परब्रह्म परमात्माको प्राप्त होते हैं (गीता ४ । ३१)।' 'कर्मसंन्यासयोग' विषयक गीताके पञ्चम अध्यायमें भगवान्ने स्पष्ट कर दिया है कि 'यद्यपि संन्यास और कर्मयोग दोनों ही परम कल्याणकारक हैं तथापि साधन-सुगम होनेके कारण कर्मोंके संन्याससे निष्काम कर्म-योग श्रेष्ठ है (गीता ५ । २) ।' 'निष्काम कर्मयोगके अनुष्ठान बिना संन्यास (नैष्कर्म्यावस्था) की प्राप्ति कठिन है । निष्काम-कर्मयोगी परब्रह्म परमात्माको शीघ्र ही प्राप्त हो जाता है (गीता ५ । ६) ।'

भगवद्गीताके अष्टम अध्यायमें गतिका रहस्य बतलाते हुए भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—'अव्यक्त अक्षर है वह ब्रह्म । उस अक्षर नामक अव्यक्त भावको 'परम गति' कहते हैं, जिसे प्राप्त होकर निष्काम कर्मयोगी फिर नहीं लौटते । वह मेरा परम धाम है (गीता ५ । २१) ।' 'ब्रह्मवेत्ता योगीजन क्रमशः अग्नि, ज्योति (ज्वाला), दिन, शुक्ल पक्ष और उत्तरायणके छः महीनोंके अभिमानी देवताओंकी सहायतासे ब्रह्मको प्राप्त होते हैं (गीता ८ । २४) ।' ज्ञानसे अर्थात् निष्काम बुद्धिसे कर्म करनेवाले ज्ञानी पुरुषोंको देवयान (अर्चिरादि) गति अर्थात् मुक्तिरूपी परम सिद्धि मिलती है ।[४२]

---

३८. कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳ समाः ।
(यजु० ४० । २)

३९. एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ॥
(ईश० २)

४०. गीता-रहस्य अथवा कर्मयोगशास्त्र, पृष्ठ ३७५ ।

४१. आरभ्य कर्माणि गुणान्वितानि भावाँश्च सर्वान् विनियोजयेद् यः ।
तेषामभावे कृतकर्मनाशः कर्मक्षये याति स तत्त्वतोऽन्यः ॥
(श्वे० उ० ६ । ४)

४२. गीता ८ । २२ पर श्रीरामानुजभाष्य, पृष्ठ २७६ ।

अतएव अर्जुनको पूर्णतया कर्मयोग-पथपर अग्रसर करके भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—'धनंजय ! यदि तू अभ्यासयोग (भगवत्प्राप्ति-विषयक शास्त्राध्ययन) में भी अपनेको असमर्थ पा रहा है तो सत्कर्म-परायण बन अर्थात् निष्कामभावसे कर्तव्य-कर्मोंको भगवदर्पण-बुद्धिसे कर । भगवदर्थ कर्मोंको करता हुआ ईश्वर-प्राप्तिरूप परम सिद्धिको प्राप्त होगा (गीता १२ । १०)।'

भगवद्गीताके अन्तिम—'मोक्षसंन्यासयोग' नामक अध्यायमें भगवान्‌ने मानव-जीवनमें कर्मका महत्त्व बतलाते हुए कहा है कि 'अपने-अपने (स्वाभाविक) कर्ममें लगा हुआ मनुष्य मोक्ष (परम कल्याण) को प्राप्त होता है (गीता १८।४५)।' 'जिस परमात्मासे सर्वभूत-प्राणियोंकी उत्पत्ति हुई है, जिससे सारा विश्व परिव्याप्त है, उस परमेश्वरकी अपने स्वाभाविक कर्मद्वारा आराधना करके निष्काम कर्मयोगी परम सिद्धिको प्राप्त होता है (गीता १८ । ४६)।' गीताका उपसंहार (अन्तिम लक्ष्य) बतलाते हुए भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि 'जो पुरुष श्रद्धायुक्त और दोषदृष्टिसे रहित हो (इस गीताशास्त्र) का श्रवणमात्र करेगा, वह भी पापोंसे मुक्त होकर उत्तम कर्म करनेवालोंके श्रेष्ठ लोकोंको प्राप्त होगा (गीता १८ । ७१) ।'

वेदान्तदर्शनमें पुरुषार्थकी सिद्धि कर्मसे बताकर दर्शनकारने प्रकारान्तरसे कर्मयोगका महत्त्व स्वीकार किया है। धर्म, अर्थ, कामके पश्चात् मानवका परम पुरुषार्थ मोक्ष है।[४३] योगदर्शन (योगबीज उपनिषद्) में प्रश्नोत्तरके माध्यमसे देवयान (अर्चिरादि) गतिके प्राप्ति-हेतु ज्ञान-योगकी अपेक्षा कर्मयोगको अधिक महत्त्व दिया गया है—

योगेन रक्ष्यते धर्मो विद्या योगेन रक्ष्यते।
योगहीनं कथं ज्ञानं मोक्षदं भवतीश्वरि ॥
ज्ञाननिष्ठो विरक्तो वा धर्मज्ञोऽपि जितेन्द्रियः।
विना योगेन देवोऽपि न मोक्षं लभते प्रिये ॥[४४]

'ईश्वरि ! योगसे धर्म तथा विद्याकी रक्षा होती है। योग (कर्मयोग) के बिना ज्ञान किस प्रकार मोक्ष प्रदान कर सकता है ? ज्ञाननिष्ठ, विरक्त, धर्मज्ञ और जितेन्द्रिय—यहाँ-तक कि देव भी योग (निष्काम कर्मयोग) के बिना मोक्ष नहीं प्राप्त कर सकते।'

४३. आचारदर्शनात्। (वेदान्तसूत्र ३ । ४ । ३)
४४. योगदर्शन। (योगबीज उपनिषद् पृष्ठ ३०)

मनुजीने भी कहा है कि वेदोक्त कर्मका आचरण सर्वोत्तम है। इससे संसारमें सुख तथा मृत्युके पश्चात् मुक्ति लाभ होता है।[४५]

ज्ञानहीनको केवल कर्मसे पितृयाण (धूममार्ग गति) की प्राप्ति

ज्ञानयोगी और निष्काम कर्मयोगीको देवयानगति प्राप्त होती है, परंतु ज्ञानविहीन केवल कर्म (गृहस्थाश्रमके नित्य नैमित्तिक कर्म) सकाम भावसे करनेवाले पुरुषको पितृयाण (धूममार्ग) गति मिलती है। उपनिषद्, महाभारत, भगवद्गीता आदि सद्ग्रन्थोंमें दोनों गतियोंका उल्लेख है। छान्दोग्य उपनिषद्में पितृयाणगति प्राप्त करनेवाले मनुष्योंके बारेमें कहा गया है कि 'अब जो ये गृहस्थलोग ग्राममें 'इष्ट, पूर्त और दत्त'[४६] कोटिकी उपासना करते हैं, वे धूमको प्राप्त होते हैं। धूमसे रात्रिको, रात्रिसे कृष्णपक्षको, कृष्णपक्षसे जिन छः महीनोंमें सूर्य दक्षिण-अयन (दक्षिण-मार्ग) से जाता है, उनको प्राप्त होते हैं। ये लोग संवत्सरको नहीं प्राप्त होते।[४७]

बृहदारण्यक उपनिषद्में भी कुछ अवान्तरके साथ पितृयाणका प्रसंग इस प्रकार आया है कि 'जो यज्ञ, दान और तपके द्वारा लोकोंको जीतते हैं, वे धूम (धूमाभिमानी देवता) को प्राप्त होते हैं, धूमसे रात्रिके अभिमानी देवताको, रात्रिसे अपक्षीयमाणपक्ष (कृष्णपक्षाभिमानी देवता) को, इससे जिन छः महीनोंमें सूर्य दक्षिण दिशाकी ओर रहता है उनके अभिमानी देवताओंको, इनसे पितृलोकको, तत्पश्चात् चन्द्रलोकको प्राप्त होते हैं। पुण्यक्षय होनेपर आकाशको, आकाशसे वायुको, वायुसे वृष्टिको, फिर पृथ्वीको प्राप्त होकर

४५. षण्णामेषां तु सर्वेषां कर्मणा प्रेत्य चेह च।
श्रेयस्करतरं ज्ञेयं सर्वदा कर्म वैदिकम्॥
(मनुस्मृति १२ । ८६)
४६. त्रिष्वथ क्रतुकर्मेष्टं पूर्तं खातादि कर्म यत्। (यज्ञ कार्य 'दान'—'इष्ट' तथा बावली, कुआँ, तालाब आदि खुदवाना तथा औषधालय, देवालय बनवाना—'पूर्त' है।)
(अमरकोष (मणिप्रभाव्याख्यायुक्त २ । ७ । २८)
४७. अथ य इमे ग्राम इष्टापूर्ते दत्तमित्युपासते ते धूममभिसम्भवन्ति धूमाद्रात्रिं रात्रेरपरपक्षमपरपक्षाद्यान्षड् दक्षिणैति मासांस्तान्नैते संवत्सरमभिप्राप्नुवन्ति।
(छान्दोग्य ५ । १० । ३)

अन्न हो जाते हैं। पुनः वे पुरुषरूप अग्निमें हवन किये जाते हैं, स्त्रीरूप अग्निमें उत्पन्न होते हैं। इसी प्रकार वे बार-बार परिवर्तित होते रहते हैं। जो दोनों (देवयान और पितृयाण) मार्गोंको नहीं जानते, वे कीट-पतङ्ग आदि होते हैं।'[४८]

वेदान्तसूत्रके अनुसार शरीरत्यागके पश्चात् कर्म-सम्बन्ध नहीं रह जाता; अतः दक्षिणायनमें भी शरीर-त्याग करनेवाले विद्वान्‌को ब्रह्मकी प्राप्ति होती है।'[४९] याज्ञवल्क्य-स्मृतिमें उल्लेख है कि 'न्यायपूर्वक धन उपार्जन करनेवाले धर्मवान्, ज्ञाननिष्ठ, अतिथि-सत्कार-परायण, नित्य-नैमित्तिक श्राद्धादि कर्म करनेवाले गृहस्थ भी मोक्षको प्राप्त करते हैं।'[५०]

श्रीमद्भगवद्गीतामें पितृयाणगतिको प्राप्त करनेवाले साधकको भी भगवान् श्रीकृष्णने 'योगी' कहा है। सद्गतिकी ओर अग्रसर होनेके कारण वह अवश्य योगी है।'[५१] परंतु मुण्डकोपनिषद्‌में ऐसे पितृयाण-साधकको 'प्रमूढ़' कहा गया है—

इष्टापूर्तं मन्यमाना वरिष्ठं
नान्यच्छ्रेयो वेदयन्ते प्रमूढाः।
नाकस्य पृष्ठे ते सुकृतेऽनुभूत्वेमं
लोकं हीनतरं वा विशन्ति[५२] **॥**

'मूढ़ मनुष्य इष्ट और पूर्तको, अर्थात् वेदोक्त एवं स्मृत्युक्त सुख-साधक कर्मोंको करते, उन्हींको सर्वश्रेष्ठ कल्याण-साधन मानते हैं; तदतिरिक्त परम पुरुष परमात्माकी प्राप्तिके लिये चेष्टा नहीं करते; वे अपने पुण्यकर्मोंके फल-स्वरूप स्वर्गलोकके सुख भोगकर, पुण्यक्षयके पश्चात् पुनः इस मनुष्यलोकमें अथवा इससे भी नीची कीट-पतङ्गादि, कूकर-शूकर आदि योनियोंमें उत्पन्न होते हैं।'

महाभारतमें भी पितृयाण और देवयानका प्रसंग आया है—

पन्थानौ पितृयानश्च देवयानश्च विश्रुतौ।
ईजानाः पितृयानेन देवयानेन मोक्षिणः॥
(महा०, शान्ति० १७। १५)

अर्थात् 'शास्त्रमें पितृयान और देवयान नामक दो मार्ग प्रसिद्ध हैं। उनमें वर्णाश्रमके अभिमानी पितृयानसे स्वर्गलोकको एवं मोक्षकी इच्छावाले देवयानमार्गसे परब्रह्म-धामको जाते हैं।'

भगवती गीता पितृयाण-मार्गी पुरुषोंकी पुनरावर्तन गतिका प्रतिपादन करती हुई कहती है कि 'धूम, रात्रि, कृष्णपक्ष तथा दक्षिणायनके छः मासोंमें शरीरको त्यागनेवाला योगी[५३] (सकाम कर्मयोगी) चन्द्रके तेजमें, अर्थात् चन्द्रलोकमें जाता है। पुण्यक्षय होनेपर पुनः मनुष्य-लोकमें लौट आता है (गीता ८। २५)।' गीतामें यत्र-तत्र स्वर्गार्थी (पितृयाणाभिमानी) पुरुषोंकी भर्त्सना करते हुए भगवान् श्रीकृष्णने कहा है कि 'हे अर्जुन! स्वर्गके पीछे पड़े हुए काम्य बुद्धिवाले अविवेकी सकामकर्मी स्वर्गपरायण पुरुष पुनर्जन्मरूप कर्मफल देनेवाली, विस्तृत क्रियाओंवाली सुहावनी वाणी बोलते हैं (गीता २। ४२-४३)।'

भगवान् आगे कहते हैं—'तीनों वेदोंमें निष्ठा रखने-वाले, सोमरस पीनेवाले, विशुद्ध-पापोंवाले पुरुष यज्ञोंसे मुझे पूजकर (मुझे न जाननेके कारण) स्वर्गप्राप्तिकी याचना करते हैं। पुण्यफलरूप इन्द्रलोकको पाकर दिव्य भोगोंको भोगते हैं। पुण्यक्षय होनेपर पुनः मर्त्यलोकमें प्रवेश करते हैं (गीता ९। २०-२१)।'

---

४८. अथ ये यज्ञेन दानेन तपसा लोकाञ्जयन्ति ते धूममभिसम्भवन्ति। धूमाद्रात्रिंरात्रेरपक्षीयमाणपक्षमपक्षीयमाण-पक्षाद् यान् षण्मासान् दक्षिणादित्य एति मासेभ्यः पितृलोकं पितृलोकाच्चन्द्रं ते चन्द्रं प्राप्यान्नं भवन्ति ..... ।
(बृहदारण्यकोपनिषद् ६। २। १६)

४९. अतश्चायनेऽपि दक्षिणे। (वेदान्तसूत्र ४। २। २०)

५०. न्यायागतधनस्तत्त्वज्ञाननिष्ठोऽतिथिप्रियः । श्राद्धकृत् सत्यवादी च गृहस्थोऽपि हि मुच्यते॥
(याज्ञवल्क्यस्मृति ३। २०५)

५१. गीतातत्त्वविवेचनी (ब्रह्मलीन श्रीजयदयालजी गोयन्दका) (८। २५)।

५२. मुण्डकोपनिषद् १। २। १०।

५३. 'योगी' शब्द पुण्यकर्मा पुरुषका वाचक है। (गीता रामानुजभाष्य ८। २५)

श्रीकृष्णके जन्म-कर्मको तत्त्वतः जाननेसे मुक्ति

(लेखक—श्रीकृष्णप्रसादजी शर्मा घिमिरे शास्त्री, काव्यतीर्थ, भागवत)

श्रीमद्भगवद्गीतामें भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः ।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन ॥
(४ । ९)

यह श्लोक भगवान् श्रीकृष्णके द्वारा अपने प्रिय सखा अर्जुनको कुरुक्षेत्रके रणाङ्गणमें युद्धसे विरत होने अर्थात् क्षत्रियोचित वर्णधर्मका त्याग कर देनेके असद्विचारसे युक्त होते देख, उनको स्वधर्मपरिपालनरूप प्रवृत्तिमार्गमें प्रवृत्त करानेके लिये ही कहा गया है ।

पूर्व-प्रसङ्ग इस प्रकार है । भगवान् अर्जुनको समझाते हुए आत्मतत्त्वके अमरत्व, अनादित्व एवं त्रिकालाबाधित सच्चिदानन्दात्मकत्वका निर्देशकर एवं बोधगम्य कराकर कहते हैं कि "सांसारिक राग-द्वेषोंका त्याग कर स्व-स्ववर्णाश्रमाचारोचित सत्कर्म करते रहनेपर ही सांसारिक मनुष्य अपना उद्धार कर सकता है । यही शास्त्रीय सिद्धान्त है और इसीका मैंने बहुत पहले ही ऐसे ही अधिकारी पुरुषोंको उपदेश किया था, जिनमें प्रधान विद्वान् 'विवस्वान्' ही थे । उन्हींसे आचार्य-परम्परानुसार दूसरोंने इसको जाना और माना । तदनन्तर ब्रह्मात्मैक्यबोधक उस सिद्धान्तको बादके बहुतसे देवर्षि-ब्रह्मर्षि-राजर्षि एवं अन्य महापुरुषोंने भी अपने-अपने सांसारिक मार्गमें सुचारुरूपसे विचरण करनेके लिये अपनाया । परंतु आगे चलकर विकराल कालके गालमें फँसकर वह नष्टप्राय हो गया था । उसी सिद्धान्तको फिर मैं आज प्रोज्ज्वलित करता हुआ इस प्रकार तुम्हारे सम्मुख प्रकट कर रहा हूँ; क्योंकि तुम मेरे प्रिय हो, सखा हो अर्थात् इस वस्तुको प्राप्त करनेके उपयुक्त अधिकारी हो ।" (गीता ४ । १—३)

भगवान्‌की वाणी सुनकर अर्जुन आश्चर्यचकित होकर उन्हींसे पूछने लगे कि 'मेरे परम प्रियतत्त्व भगवान् कृष्ण ! आप तो सर्वथा आधुनिक हैं और वे विवस्वान् आदि हैं—युगों-पूर्वके अत्यन्त प्राचीन हैं । फिर मैं आपके वाक्यको कैसे सत्य मान लूँ ?' (गीता ४ । ४)

श्रीभगवान्‌ने अर्जुनको समझाते हुए उत्तर दिया—'अर्जुन ! एक मैं ही वह हूँ, जो त्रिकालाबाधित जन्म-मरणादिविहीन अव्यय तत्त्व है । मैं ही नाम-रूपधारी इन सारे प्राणिमात्रका प्रवर्तक, पालक एवं संहारक हूँ । किंतु ऐसा होनेपर भी अपनी प्रकृतिके आधारपर, अपने ही स्वभाव (सत्ता) को स्वीकार कर समय-समयपर संत-संरक्षण, दुष्ट-संहरण एवं धर्म-विस्तार तथा स्वात्मविनोदके लिये मैं स्वयं अपनेको प्रकट करता हूँ; जिसको विद्वज्जन 'मेरा अवतार' कहते हैं । मेरी इस भागवती स्थितिको, मेरे दिव्य सत्कर्मोंको और ऐसे दिव्य जन्मोंके तत्त्वको जो यथार्थरूपसे जान लेते हैं, बस, वे लोग इस संसारमें अपना भौतिक शरीर छोड़नेपर मुझमें मिल जाते हैं । अर्जुन ! इन सब बातोंके एवं मेरे उन युगों पहलेके अन्य जन्मोंके सारे कर्मोंके रहस्य जाननेका मूल साधन है—'यह मेरा अखण्ड एवं अप्रतिहत स्वात्मतत्त्व-परिज्ञान ।' इस तत्त्वको प्राप्त करनेपर तुम भी तुरंत ऐसे ही बन जाओगे ।' (गीता ४ । ६—१०)

यह है—उपर्युक्त महावाक्यका प्रासङ्गिक स्वरूप-निदर्शन । अब इस विषय-वस्तुको लेकर विश्लेषणात्मिका दृष्टिसे यानी दार्शनिक ढंगसे कुछ विचार किया जाता है । प्रश्न होता है कि 'जो अजन्मा है, जन्म-जरा-मरणादिविकारशून्य है, वह जन्मेगा ही कैसे ? फिर जो निष्क्रिय है, वह कर्म क्या करेगा ? करे भी तो कैसे ? कर्म करनेके लिये उपयुक्त साधन भी तो होने चाहिये । जहाँ न साध्य है, न साधन; वहाँ कोई साधक हो भी तो वह क्या करेगा ?' इन सब प्रश्नोंपर गीताकी दृष्टिसे मनन-चिन्तन एवं निदिध्यासनादिसे विचार करनेपर प्रश्नकर्तामें भी कुछ-न-कुछ भाव आ ही जाता है । वह यह कि 'मैं ही (यानी वह एक तत्त्व ही) सब कुछ हूँ'—ऐसी सद्भावनासे ओतप्रोत वह भाव हो सकता है ।

अनादि सच्चिदानन्दात्मक परब्रह्मकी अप्रतिहार्य उस कालात्मिका शक्तिके अन्तर्गत इच्छाशक्ति भी उस तत्त्वमें भूत-भविष्य-वर्तमान—तीनों कालोंमें प्रस्फुरित होती रहती है, जिसके आधारपर वह परब्रह्म सब कुछ कर सकता है । यद्यपि वह 'पूर्णकाम एवं स्वात्माराम' ही है, तो भी केवल अपने मनोविनोदके लिये, अपने-जैसे ही पूर्णकामी एवं आत्मारामी जीवोंकी सृष्टि करता है । उस समय उसकी इच्छा होती है—'एकोऽहं बहु स्याम् ।—मैं एक हूँ, अब

बहुत हो जाऊँ।' बस, इस इच्छाशक्तिसे—उसके इतना संकल्प करनेके साथ ही उस अविकृत एवं निष्क्रियतत्त्वसे विकृत एवं सक्रियतत्त्व पैदा हो जाते हैं, जिनसे क्रमशः सृष्टि-विस्तार होने लगता है। जिसमें प्रधान होते हैं—पञ्चकर्मेन्द्रिय, पञ्चज्ञानेन्द्रिय, मन, चित्त, बुद्धि, अहंकार, पञ्चतन्मात्रा एवं पञ्चप्राण। इन चौबीस तत्त्वोंसे सम्बन्धित हो जानेपर वह अमूर्त तत्त्व परब्रह्म मूर्त बन जाता है। जिसको सबसे पहले सृष्ट होनेके नाते लोकपितामह अथवा 'ब्रह्मा' भी कहते हैं। इस स्थितिसे—ऐसी प्रक्रियासे वह अजन्मा भी अपनी अप्रतिहार्य इच्छानुसार अपनेमें अपनेसे अपनेको सृष्ट बनाता है; अर्थात् इस नाम-रूपात्मक संसारमें अपनेको भी वैसे ही बना लेता है, जैसे कि तरङ्गोंको समुद्र अपनेमेंसे निकालकर, अपनी इच्छाके अनुसार क्रीड़ा कराकर, अन्तमें अपनेमें ही मिला लेता है; जैसे मकड़ी अपनेमेंसे सूतोंको बाहर निकाल, उसमें यथेच्छ क्रीड़ा कर अन्तमें अपनेमें ही मिला लेती है। इस प्रकार होता है—उस परब्रह्मका लीला-विनोद, जिसमें आप-हम-जैसे जीवोंको अपनी-अपनी पूर्वजन्मोंकी वासना और धारणाके अनुरूप इस संसारके जन्म-मृत्युरूप चक्रमें घूमना पड़ता है। इस स्थितिमें वह परब्रह्म भी मायाके कारण विकारी कहलाता है, तब भी वास्तवमें उसमें वह विकार होता नहीं है, अर्थात् वह जब जो कुछ करना चाहता है, निर्विकार रहकर कर सकता है; क्योंकि उसमें उसकी अबाध ज्ञानशक्ति एवं प्रबल इच्छाशक्ति पूर्णरूपमें विद्यमान है। इधर हम-जैसे सृष्ट—विकृत जीवोंकी वह उसीकी जैसी अबाध विज्ञान-धारा विलुप्त हो जाती है। हमलोगोंकी ही क्यों, उन लोकपितामहकी भी, वह ज्ञान एवं इच्छाशक्ति, जो पहले उस ब्रह्मकी ही जैसी अप्रतिहार्य थी, अपनेको नाम-रूपात्मक समझनेपर—मैं-मेरेकी सुदृढ़ भावना जगनेपर अपने-आप विलुप्त हो जाती है; ठीक वैसे ही जैसे किसी लकड़ीमें अग्निदेवकी सत्ता रही है, परंतु जिसे पानेके लिये पानेवालेको अखण्ड प्रयत्न करना ही पड़ेगा। वह भी लौकिक व्यवहार-जैसा नहीं कि एक आदमी लकड़ीसे अग्नि उत्पन्न करे और उसका उपयोग सब लोग करें। यहाँ तो 'जो ध्यावै फल पावै' यही नीति बनी रहेगी। इधर हमलोग भी लोकपितामहसे कम नहीं हैं; किंतु जैसे परब्रह्मसे विकृत होनेपर वे नाम-रूपात्मक सांसारिक बन गये तो फिर हमलोगोंकी क्या बिसात है, क्या शक्ति है कि बिना तीव्र आकाङ्क्षा एवं प्रबल प्रयत्नके, हम इतने ऊँचे अबाध ज्ञान-धारा-सम्पन्न व्यक्तिविशेषोंकी बराबरी कर सकें? उनसे भी विकृत होते-होते, हमलोग कहाँसे कहाँ आ पहुँचे हैं। हाँ; एक अंशमें हमलोग भी उनकी बराबरीके हैं। जैसे लोकपितामह चौरासी लाख योनियोंकी सृष्टि रचते हैं, वैसे हम एक योनिको रच रहे हैं। पर कभी क्या उनकी बराबरी होगी? हाँ! होगी, यदि हमलोग भी सबसे पहले आत्मसंयम तथा उनके-जैसे तपश्चरण एवं अनन्तकालपर्यन्त आत्मदर्शनमें लगे रहें और अपनेमें—ब्रह्मात्मैक्यका बोध प्राप्त कर लें। ऐसा कर सकें तो कोई भी बड़ी बात नहीं। नहीं तो, बिल्कुल असम्भव है। होनेकी बात ही नहीं है।

यह विश्व-प्रपञ्च उसी परम ब्रह्मसे, उसकी सदिच्छासे उत्पन्न होता है, पलता है और यथासमय नष्ट भी हो जाता है। इसी तरह वह पूर्णब्रह्म क्रमशः सत्त्व, रज और तम आदि गुणोंपर खेलता हुआ अपने मनोविनोदार्थ अपनेको ही अवतारी बनाता रहता है; सांसारिक व्यक्ति एवं वस्तुमात्रसे बिल्कुल अलग होकर अपनी लीलाएँ करता रहता है। वह अवयवी है, हम सब हैं अवयव। जैसे अवयवसे अवयवी और अवयवीसे अवयव पृथक् नहीं होते हैं, वैसे ही न हम उससे पृथक् हैं और न वह पूर्ण ब्रह्म ही हमलोगोंसे पृथक् है। भिन्नत्व इतना ही दिखायी पड़ता है कि हमलोग विषय-वासनामें मत्त हैं, अपूर्णकाम हैं और वह नित्य पूर्णकाम एवं स्वात्माराम तथा स्वात्मरत है। जैसा कि उसके निःश्वास वेद बोलते हैं—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभि चाकशीति।

(ऋग्वेद १। १६४। २०)

अब जब कि सृष्टिप्रपञ्च-विस्तारमें सत्त्व, रज, तम—इन तीनों गुणोंके वैशिष्ट्यसे ह्रास एवं विकास आदि होने लगता है, उस समय उसमें जब उस परब्रह्मके अपने नियमोंपर—विधानोंपर आघात होने लगते हैं, अर्थात् धर्मलोप, दुष्टोंकी वृद्धि, सदाचारी व्यक्तियोंका ह्रास इत्यादि होने लगते हैं, तब उन लोकपितामह-जैसे महापुरुषोंके अपने सत्त्व, ओज, बल, विक्रम-वैभव, ज्ञान, बुद्धि आदि वस्तुओंसे सम्पन्न व्यक्तिविशेषका उदय होता है। तब उनको भी अवतार कहते हैं। फिर, जब ऐसे अवतार-पुरुषोंके भी बल-बूतेसे बाहर न आनेवाले कोई वैसे ही तमोगुणविशिष्ट प्रकाण्ड-बल-विक्रम एवं वैभवशाली पुरुष उत्पन्न होकर इस जगतीतलमें उपर्युक्त नियमोंपर—विधानोंपर आघातकर अनेकों प्रकारके उपद्रव शुरू कर

देते हैं और जब उपर्युक्त अवतार-पुरुषोंसे काम बनता नहीं दीखता, तब वह पूर्णब्रह्म स्वयं अमूर्त एवं अजन्मा होनेपर भी मूर्त बनकर जन्म अथवा अवतार लेकर पूर्वोक्त अपने सारे कर्म सिद्ध कर लेता है । इसीको कहते हैं—'पूर्णावतार' । भगवान् श्रीकृष्णका यही पूर्णावतार है । अतएव भगवान् श्रीकृष्ण आब्रह्मकीटपर्यन्तके हममेंसे अथवा उन अंशावतारोंमेंसे कोई भी नहीं हैं और न हो सकते ही हैं । वे तो साक्षात् परब्रह्म हैं । श्रीमद्भागवतकी स्पष्ट घोषणा है—

'एते चांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम् ।'
(१ । ३ । २८)

अर्जुनको उस विषयका अधिकारी देखकर भगवान् श्रीकृष्णको पूर्वोक्त ढंगसे अपना परिचय देनेमें कुछ आपत्ति नहीं दिखायी दी । बड़ा ही विचित्र है उनका यह पूर्णावतार-ग्रहण एवं उनकी संसारपरिपालन-परिपाटी भी । जब उन तमोगुणपरिपूर्ण व्यक्तियोंसे अथवा तमोगुणविशिष्ट उन प्रबल पराक्रमी तत्त्वोंसे संसारके सारे सत्त्वगुणांशसम्पन्न तत्त्वविशेष आक्रान्त होकर बिना जलकी मछलियोंकी भाँति छटपटाने लगे; जब महिमाशाली उपर्युक्त अवतार-पुरुषोंकी भी कुछ दाल न गली, तब उन सबने संयुक्त हो यानी एकाकार एवं अनन्यवृत्तिके होकर अपनी इस स्थितिको उन जगदीश्वर परब्रह्मके समक्ष रक्खा । तब उनमेंसे सबसे पहले उन्हीं लोकपितामहको भविष्यका यथार्थ बोध हुआ । श्रीमद्भागवतके कृष्णावतार-प्रसङ्गमें यह विदित होता है कि उस परब्रह्मकी वह कालशक्ति इतनी प्रबल है कि वह किसी हालतमें भी किसीकी पकड़में—वशमें नहीं आ सकती । वह केवल उन्हींकी स्वेच्छाके अधीन है । तब उसीके आधारपर उनका प्रादुर्भाव हुआ—वह भी कंसके कारागारमें । उसके बाद वे प्रभु तुरंत गोकुल आ गये । वहाँ उन्होंने अनेक अलौकिक बाल-लीलाएँ कीं, जिनके सम्बन्धमें हम-जैसे नगण्य लोगोंकी तो बात ही क्या, बड़े-बड़े महात्मा मुनिराज, योगीश्वर एवं देवर्षि, ब्रह्मर्षि, राजर्षि लोग भी 'त्वं शरणम्'के अतिरिक्त और कुछ कहनेकी बात तो दूर रही, सोच भी नहीं सकते । पूज्यपाद श्रीशंकराचार्यजी-जैसे शंकरावतारी महापुरुष भी—

नारायण करुणामय शरणं करवाणि तावकौ चरणौ ।
इति षट्पदी मदीये वदनसरोजे सदा वसतु ॥

—कहते हैं । उन लीलामय प्रभुने अपनी बाललीलामें तमोगुणविशिष्ट उन दुरात्माओंका संहार करते हुए मथुरामें आकर क्या-क्या किया, यह सभी जानते हैं । तदनन्तर आवश्यक न होनेपर भी, लोकसंग्रहार्थ अपना व्रतबन्धादि कर्तव्य-कर्म-सम्पादन कर इन्होंने शास्त्राध्ययन किया और साथ ही विवाह आदि भी कराये । फिर तो, उन प्रभुकी सदा-दर्शमयी घर-गृहस्थी चलने लगी । इन सब कार्योंके साथ ही उनके वे दुष्ट-संहार, साधु-संरक्षण एवं धर्म-परिपालन इत्यादि लीला-कर्म भी चलते रहे । तदनन्तर जब कुरुक्षेत्रके रणाङ्गणमें सर्वलोकसंहारी युद्धका डंका बजा, तब वहाँ भी ये भगवान् अपना नायकत्व प्रकट करनेको पहुँच गये और अपने पक्षके विशिष्ट योद्धाओंको अपनेसे बड़ोंके—पूज्यचरणोंके वध करनेमें पाप समझकर हट जानेपर दुष्ट-संहार करनेके अपने लक्ष्यपर आघात पहुँचते देख उन्होंने तुरंत कहा—'अर्जुन ! तुम क्या यह समझते हो कि इन सबको मारनेवाले तुम हो ? तनिक इधर देखो, मैं इन सबको पहले ही मार चुका हूँ । तुम केवल निमित्तमात्र बन जाओ ।' (गीता ११ । ३२-३३) भगवान्‌की इस वाणीको सुनकर उनके द्वारा प्रदत्त दिव्य दृष्टिसे अर्जुनने अपने ही नेत्रोंसे देखा कि वे सभी योद्धा कालके कराल गालमें प्रवेश करते जा रहे हैं और वे बोल उठे—**'विशन्ति वक्त्राण्यभिविज्वलन्ति ।'** (गीता ११ । २८) इत्यादि । फिर उन्हीं प्रभुने अर्जुनको गीताके अन्तिम भागमें जो सदुपदेश दिया, उसके आधारपर वे भी प्रवृत्तिमार्गके विशिष्ट पथिक बन गये । इसके बाद अपनी सारी प्रवृत्तियोंको समेटकर, अपने वंशजोंका भी संहारकर जब वे प्रभु अपने परमधामको जाने लगे, तब उनके दूसरे निवृत्तिमार्गके अधिकारी उद्धवजी वहाँ आ पहुँचे और लगे रोने-चिल्लाने । तब इस महापुरुषने निवृत्तिमार्गका यथार्थ स्वरूप निर्देशकर अन्तमें उसी मार्गसे आये हुए उन उद्धवजीको भी अपनेमें ही मिला लिया । ये दोनों अर्जुन और उद्धव ही तो उन महाप्रभुके अनन्यसाधारण प्रवृत्ति एवं निवृत्तिमार्गके साधिकारी सच्छिष्य थे । उन महाप्रभुका इन दोनोंको दिया हुआ महादान उन्हींके अंशावतारी एवं महान् मन्त्रद्रष्टा भगवान् कृष्णद्वैपायनजीके अनुग्रहसे आज भी हम-जैसे लोगोंको मनन, चिन्तन एवं निदिध्यासन आदि करनेके लिये मिल रहा है । यह है—उन साक्षात् परब्रह्म भगवान् श्रीकृष्णके सत्कर्मोंका, उनकी लीलाओंका प्रासङ्गिक यत्किंचित् विवरण ।

अब हमें चाहिये कि तत्त्वान्वेषणपूर्वक स्वस्ववर्णा-

श्रमाचारोचित सत्कर्मजन्य अदृष्ट-सम्पादनकर, प्रवृत्तिमार्गके अच्युत पथिक बनकर, यहाँ अर्थात् गृहस्थधर्ममें रहनेतक समीचीनतया कर्म-अकर्म-विकर्मके स्वरूपको समझ-बूझकर सत्कर्म करते जायँ—समझते जायँ। उसके बाद जब कि एषणात्रयसे रहित हो हमलोग निवृत्तिमार्गके अधिकारी बन जायँगे, तब उस मार्गके पथिक बनकर चल देंगे और इस भौतिक शरीरको छोड़कर जन्म-जरा-मरणादि-विहीन उसी तत्त्वमें समा जायँगे।

मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते

(लेखक—श्रीरामप्यारेजी मिश्र, एम्० ए० (संस्कृत तथा हिंदी), व्याकरणशास्त्राचार्य, साहित्यरत्न)

भारतीय जीवनधारा परमपदके महार्णवमें विलीन होकर शाश्वत शान्तिके मधुमय अमृतपदको प्राप्त करती है। इसलिये मानव-जीवनका चरम लक्ष्य यहाँ परमानन्दप्राप्तिको ही माना जाता है। कर्म, ज्ञान, भक्तिके सभी प्रयास इसी शाश्वत शान्ति या अखण्डानन्दके लिये किये जाते हैं। आनन्दोपलब्धिके लिये ही आचार, धर्म, नीति, राजनीति, दर्शन, अध्यात्म प्रभृति शास्त्रोंका प्रणयन होता है। मानव-समाज इनका अध्ययन, चिन्तन तथा पालन करता है। चित्र, मूर्ति, संगीत, वास्तु तथा काव्य-कलाओंकी उत्पत्ति तथा उनके विकासका मूल शाश्वत सुख ही है। साहित्य-स्रष्टा **'रसो वै सः। रसꣳह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दीभवति।'** की भावनासे आह्लादके लिये ही साहित्य-सृष्टि करता है। एकाकी आदिमानव आज सुखके लिये ही स्त्री, परिवार, ग्राम, जनपद, प्रान्त, देश तथा विराट् विश्वके विविध समुदायों, वर्गों, वर्णोंके संगठनोंमें आबद्ध हो गया है। समाज, धर्म, राजनीति ही नहीं, दर्शनकी अनेक परम्पराएँ, उपासनाके शैव, शाक्त, वैष्णव, सौर, गाणपत्य-सम्प्रदाय—संतोंके ज्ञानी, श्रीराम-कृष्णके भक्तरूप प्रेम-पथिक आदि अनेक पन्थ सभी अपने-अपने ढंगसे आनन्दप्राप्तिके प्रयासोंमें ही संलग्न हैं। प्रकृति-दर्शन, तीर्थयात्राक्रममें पुनीत जलाशयों-नदियोंके स्नान, समुद्र-पर्वतोंके दर्शन, ग्रह-नक्षत्रोंका मानव-सम्बन्ध सभी दुःख-निवृत्ति एवं सुख-प्राप्तिके लिये ही किये जाते हैं। आसन, प्राणायाम, योगसमाधिके मार्गसे भी साधक आनन्दप्राप्तिका यत्न करता है। समस्त भौतिक, आधिदैविक, मानसिक तथा आध्यात्मिक उत्कर्षोंको सुखसे ही प्रेरित होकर शुभ मानते हैं। आज वैज्ञानिक तथा औद्योगिक प्रगतियोंसे सुख मिलेगा, इसीलिये इनको इतना प्रोत्साहन मिल रहा है। युद्धोंका कारण भी तो युद्धाभिलाषी राष्ट्रोंके नायक अपने देशके सुखकी रक्षा ही बताते हैं। सत्ययुगमें तप, त्रेतामें ज्ञान, द्वापरमें यज्ञ तथा कलियुगमें भगवन्नामोच्चारणसे परमानन्द या परम श्रेय मिलनेकी बातें भारतीय शास्त्रोंमें वर्णित हैं। विश्वके सभी देशोंमें आनन्द-प्राप्ति एवं दुःख-निवृत्तिके अगणित प्रयास किये गये हैं। भारतमें ही अकेले ऋग्वेदसे आजतकके विस्तृतकालमें इस क्रममें जो उपलब्धियाँ हुई हैं, उनका एकत्र वर्णन भी सहज नहीं। जिन पावन पुरुषोंने इस हेतु त्याग-तपोमय कार्य किया है, उनकी नामावली भी इतनी अधिक लंबी होगी, जिसका उल्लेख भी सरल नहीं। विवेकशील प्राणी यह सब सोचकर विस्मय-विमुग्ध हो जाता है। इस जिज्ञासामें प्रत्यक्षकी अपेक्षा क्रमशः अनुमान-उपमान-शाब्द-प्रमाणोंकी ओर जिज्ञासु बड़ी आशासे देखता है। भारतीय ऋषियों, योगियोंके स्तुत्य-प्रयास उसे प्रकाश देकर शान्तिका मार्गनिर्देश भी पर्याप्त करते हैं; किंतु कहीं भी पूर्ण विराम नहीं मिलता।

मनुष्य, यक्ष, राक्षस, किन्नर, गन्धर्व ही नहीं, परम पुण्यात्मा देवलोकके अमरगण भी **'क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति।'** की स्थितिमें सुख-दुःखोंकी परिधिमें आबद्ध उत्कर्षापकर्षके महागर्तमें डूबते-उतराते दिखायी पड़ते हैं। मनुष्यलोकके तो सभी प्राणी जन्म, व्याधि, जरा, मृत्युकी पीड़ादायक परिस्थितियोंसे त्राण पानेके प्रयासमें नित्य व्याकुल होकर भटक रहे हैं। मकड़ीके जाले, क्वार-कार्तिक मासमें किसी गाँवसे बाहर जानेपर विशेषतः सूर्योदयसे पूर्व जहाँतक दृष्टि जा सके, के तन्तु-जाल एक दूसरेसे सम्बद्ध दिखायी पड़ेंगे। ध्यानसे देखिये—ये सभी कलापूर्ण जाले प्रत्येक भिन्न आकारके होंगे। पता नहीं, कैसे एक साधनहीन लघु-कीट किस श्रमसे इनका निर्माण करता है। मानव-जीवनके ममता-मोहके दुःखद बन्धन भी इसी प्रकार अति-विस्तृत, विविधरूपके मनोहारी तथा विस्मयकारी हैं। इतने

ही अधिक व्यापक, विविध प्रकारके एवं आश्चर्यमय उपाय भी इन बन्धनोंसे छुटकारा पानेके लिये किये गये हैं। इन प्रयासोंमें भारतीय ऋषियों, महात्माओं तथा योगियोंके प्रयास गीता, पुराण, संस्कृत साहित्यके उदात्त काव्य, वेदान्त आदि शास्त्रों, उपनिषद्, वेद तथा अनुभूतिके अगणित दृश्योंके रूपमें सर्वमान्य एवं शान्ति-सुखप्रद हैं। परमात्म-स्वरूप भगवान् श्रीकृष्णके—

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा-
न्यन्यानि संयाति नवानि देही॥
(गीता २। २२)

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च।
तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि॥
(गीता २। २७)

—वाक्य बताते हैं कि 'जिस प्रकार मनुष्य जीर्ण वस्त्रोंको छोड़कर दूसरे नवीन वस्त्रोंको धारण करता है, उसी प्रकार देही जीर्ण शरीरोंको छोड़कर दूसरे नवीन शरीरोंमें चला जाता है।' यह भी ध्रुव है कि जो जन्म लेता है, वह मरता है। 'अद्य वाब्दशतान्ते वा मृत्युर्वै प्राणिनां ध्रुवः।' इसीलिये शोक करना उचित नहीं। आत्मा अमर है, शरीर नश्वर। इस प्रकारके उनके वाक्य सार्वभौम, सार्वकालिक सत्य बनकर आजके पीड़ित लोकको सुख-शान्तिका मार्ग दिखाते हैं।

भवसागरकी असह्य वेदनाएँ धीर पुरुषोंको भी विचलित कर देती हैं। आशाओं, आकाङ्क्षाओंका क्रम घीकी आहुतिके बाद अग्निकी ज्वालाओंकी भाँति क्रमशः बढ़ता ही जाता है। जागतिक विपदाओंकी परम्परा ही कुछ इस प्रकार है—

आधिव्याधिशतैर्जनस्य विविधैरारोग्यमुन्मूल्यते
लक्ष्मीर्यत्र पतन्ति तत्र विवृतद्वारा इव व्यापदः।
जातं जातमवश्यमाशु विवशं मृत्युः करोत्यात्मसात्
तत्किं ते न निरङ्कुशेन विधिना यन्निर्मितं सुस्थिरम्॥

मनुष्यका आरोग्य सैकड़ों शारीरिक, मानसिक दुःखोंसे नष्ट होता है। सम्पत्ति जहाँ आती है, वहीं अनेक विपत्तियाँ भी मँडराने लगती हैं। प्रत्येक प्राणीको न चाहते हुए भी मृत्युके अधीन होना पड़ता है। विधाताने इस संसारमें कुछ भी तो सुस्थिर नहीं बनाया।

आयुः कल्लोललोलं कतिपयदिवस-
स्थायिनी यौवनश्री-
रर्थाः संकल्पकल्पा घनसमयतडि-
द्विभ्रमा भोगपूगाः।
कण्ठाश्लेषोपगूढं तदपि च न चिरं
यत्प्रियाभिः प्रणीतं
ब्रह्मण्यासक्तचित्ता भवत भवभया-
म्भोधिपारं तरीतुम्॥

'आयु जल-बुद्बुदकी भाँति अस्थिर है। यौवनकी शोभा भी कुछ ही दिनोंतक रहती है। कामिनीके सुख भी अल्पावधिक है। अतः भोगके साधनोंको वर्षाकालिक मेघकी विद्युत्की भाँति तथा धनको संकल्पकल्प मानकर भवभयकी निवृत्तिके लिये चित्तको ब्रह्ममें आसक्त कर देना ही श्रेयस्कर है।' मान्धाता, भगीरथ, सगर, ककुत्स्थ, रावण, श्रीराम-लक्ष्मण तथा युधिष्ठिर-जैसे धर्म, दान, दया, युद्धवीरों, ऐश्वर्यविशिष्ट राजाओंको इस लोकसे विलीन होते देखकर विचारकका मन इस संसारको अस्थिर नश्वर मान लेता है।

मातुलो यस्य गोविन्दः पिता यस्य धनंजयः।
सोऽपि कालवशं प्राप्तः कालो हि दुरतिक्रमः॥
(व्यास)

अभिमन्यु युवा था। सुन्दर था। स्वस्थ था। वीर था। नवविवाहित था। भला क्या उसकी मरनेकी आयु थी या स्थिति? भगवान् श्रीकृष्ण महाभारत-युद्धके संचालक-संरक्षक उसके मामा थे, उसके पिता अर्जुन महाभारतके अप्रतिम योधा थे। किंतु अभिमन्यु कालसे न बच सका। तब साधारणजन कैसे बच सकते हैं! इसी प्रकारके विचार श्रीमद्भागवतकारके हैं—

मृत्युर्जन्मवतां वीर देहेन सह जायते।
अद्य वाब्दशतान्ते वा मृत्युर्वै प्राणिनां ध्रुवः॥
देहे पञ्चत्वमापन्ने देही कर्मानुगोऽवशः।
देहान्तरमनुप्राप्य प्राक्तनं त्यजते वपुः॥
(श्रीमद्भा० १०। १। ३८-३९)

कंस वसुदेव-देवकीको स्नेहसे पहुँचाने जा रहा था। मार्गमें आकाशवाणी हुई—'अस्यास्त्वामष्टमो गर्भो हन्ता यां वहसेऽबुध।' (१०।१।३४) हे मूर्ख! जिसे तुम पहुँचाने जा रहे हो इसका आठवाँ गर्भ तुम्हें मार डालेगा।' क्रुद्ध कंस देवकीके

केशोंको पकड़कर उसकी जीवनलीला ही समाप्त कर रहा था, तभी वसुदेवजीने उसे समझाया—'हे वीर! जन्मधारण करनेवालोंके साथ ही उनकी मृत्यु भी उत्पन्न हो जाती है। आज या सौ वर्ष पश्चात् मृत्यु ध्रुव है। शरीरके अवसानके अनन्तर आत्मा कर्मानुसार देहान्तर प्राप्तकर पूर्वदेहको छोड़ देता है।'

सहस्र-सहस्र चक्रवर्ती सम्राटों, ज्ञानियों, महात्माओं, योगियों, विचारकों, इन्द्रादि देवोंतकको वायुके झोंकेसे दीपकी भाँति बुझते देखकर चेतनासम्पन्न प्राणी परम शान्ति-सुखको ढूँढ़ते भारतीय अध्यात्मशास्त्रकी शरणमें जब जाता है, तब उसे संदेश मिलता है—'जीवको कर्मानुसार विविध देहोंकी प्राप्ति होती है। जबतक वह जन्म-मृत्युके बन्धनसे मुक्त नहीं होता, शान्ति-सुख नहीं मिल सकते। इस क्रमसे छूटनेके लिये भगवत्प्राप्ति या आत्मतत्त्वोपलब्धि एकमात्र साधन है। इस क्रममें श्वेताश्वतरोपनिषद्का अभिमत इस प्रकार है—

संकल्पनस्पर्शनदृष्टिमोहै-
र्ग्रासाम्बुवृष्ट्यात्मविवृद्धजन्म ।
कर्मानुगान्यनुक्रमेण देही
स्थानेषु रूपाण्यभिसम्प्रपद्यते ॥
(श्वेता० ५ । ११)

'ग्रास, अम्बु, अन्न और जलके सेवनसे जिस प्रकार शरीरकी वृद्धि होती है, उसी प्रकार संकल्प, स्पर्श, दर्शन और मोहसे शुभाशुभ कर्म होते हैं; फिर यह देही कर्मानुसार चौरासी लक्ष योनियोंमें मानव, देव, तिर्यक्—विभिन्न रूपोंको प्राप्त करता है।'

स्थूलानि सूक्ष्माणि बहूनि चैव
रूपाणि देही स्वगुणैर्वृणोति ।
क्रियागुणैरात्मगुणैश्च तेषां
संयोगहेतुरपरोऽपि दृष्टः ॥
(श्वेता० ५ । १२)

'जीव अपने पाप-पुण्योंद्वारा स्थूल-सूक्ष्म देहोंको धारण करता है। फिर वह देही उन शरीरोंके कर्मफल और मानसिक संस्कारोंद्वारा अन्यरूप हो जाता है। अर्थात् अन्य शरीर पाता है।' किंतु जब पुण्यवश जीव ईश्वरार्थ कर्म करनेसे रागादि मलोंसे शुद्ध हो जाता है, ऐहिक तथा आमुष्मिक फलभोगोंसे विरक्त और शम-दमादि साधनोंसे सम्पन्न होता है, तब आत्माको जानकर मुक्त होता है। यह स्थिति अनेक जन्मोंके पश्चात् ज्ञानियोंको प्राप्त होती है।

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते ।
(गीता ८ । १९)

अनाद्यनन्तं कलिलस्य मध्ये
विश्वस्य स्रष्टारमनेकरूपम् ।
विश्वस्यैकं परिवेष्टितारं
ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः ॥
(श्वेता० ५ । १३)

'इस गहन संसारके मध्य अनादि, अनन्त, विश्वके रचयिता, अनेकरूप, विश्वको एकमात्र व्याप्त करनेवाले देवको जानकर जीव समस्त पाशोंसे मुक्त हो जाता है।'

जीव जब सच्चिदानन्द ब्रह्मसे अभिन्न 'अहं ब्रह्मास्मि' का अनुभव करता है तभी अमृतत्व प्राप्त होता है।

सर्वाजीवे सर्वसंस्थे बृहन्ते
तस्मिन् हंसो भ्राम्यते ब्रह्मचक्रे ।
पृथगात्मानं प्रेरितारं च मत्वा
जुष्टस्ततस्तेनामृतत्वमेति ॥
(श्वेता० १ । ६)

'जीव जबतक अपनेको और सर्वनियन्ता परमात्माको अलग-अलग मानकर भोगभूमि और प्रलय-स्थानके महान् चक्रमें भ्रमता रहता है, जब उससे अभिन्नताका अनुभव करता है, तभी अमृतत्व प्राप्त करता है।'

प्रश्नोपनिषद्में मरणकालिक संकल्पका फल बताते हुए कौसल्यके प्रश्नका उत्तर देते हुए पिप्पलाद मुनिने कहा था—

यच्चित्तस्तेनैष प्राणमायाति प्राणस्तेजसा युक्तः सहात्मना यथासंकल्पितं लोकं नयति ॥ (प्रश्न० ३ । १०)

'जीवका जैसा संकल्प होता है, उसके सहित यह प्राणको प्राप्त होता है। तथा प्राण तेजसे संयुक्त हो, उस भोक्ताको आत्मासहित संकल्प किये हुए लोकको ले जाता है।' प्रश्नोपनिषद्में ही मरण-दुःखकी निवृत्तिमें परमात्मज्ञानकी उपयोगिता बताते हुए ऐसा उल्लेख है—

अरा इव रथनाभौ कला यस्मिन् प्रतिष्ठिताः ।
तं वेद्यं पुरुषं वेद यथा मा वो मृत्युः परिव्यथा ॥
(प्रश्न० ६ । ६)

'जिसमें रथकी नाभिमें अरोंके समान सब कलाएँ आश्रित हैं, उस ज्ञातव्य पुरुषको तुम जानो, जिससे कि मृत्यु तुम्हें कष्ट न दे सके।'

कठोपनिषद्में स्पष्ट घोषणा की गयी है कि अविवेकीको संसार प्राप्त होता है। विवेकी परमपद पाता है। नानात्वकी भेददृष्टि उचित नहीं है। ईश्वरज्ञानसे ही अमरत्व-प्राप्ति होती है।

यस्त्वविज्ञानवान् भवत्यमनस्कः सदाऽशुचिः।
न स तत्पदमाप्नोति संसारं चाधिगच्छति॥
(कठ० १।३।७)

'जो अविज्ञानवान्, अनियन्त्रितचित्त और सदा अपवित्र रहनेवाला होता है, वह ब्रह्मपदको नहीं प्राप्त कर सकता; प्रत्युत संसारमें ही जाता है।'

यस्तु विज्ञानवान् भवति समनस्कः सदा शुचिः।
स तु तत्पदमाप्नोति यस्माद् भूयो न जायते॥
(कठ० १।३।८)

'जो विज्ञानवान्, संयतचित्त तथा सदा पवित्र रहनेवाला होता है, वह उस पदको प्राप्त कर लेता है, जहाँसे वह फिर उत्पन्न नहीं होता।'

मनसैवेदमाप्तव्यं नेह नानास्ति किंचन।
मृत्योः स मृत्युं गच्छति य इह नानेव पश्यति॥
(कठ० २।१।११)

'मनसे ही यह तत्त्व प्राप्त करने योग्य है। इस ब्रह्म-तत्त्वमें नाना कुछ भी नहीं है, जो इसमें नानात्व-सा देखता है, वह मृत्युसे मृत्युको जाता है।' अमरत्व-प्राप्ति ईश्वर-ज्ञानसे होती है—

यदिदं किं च जगत्सर्वं प्राण एजति निःसृतम्।
महद्भयं वज्रमुद्यतं य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति॥
(कठ० २।३।२)

'यह जो कुछ सारा जगत् है, प्राणब्रह्ममें उदित होकर उसीमें चेष्टा कर रहा है। ब्रह्म महान् भयरूप और उठे हुए वज्रके समान है। जो इसे जानते हैं, अमर हो जाते हैं।' जब जीव शरीरत्यागसे पूर्व ब्रह्मको जान लेता है मुक्त हो जाता है, अन्यथा उसका पुनर्जन्म होता है।

इह चेदशकद् बोद्धुं प्राक् शरीरस्य विस्रसः।
ततः सर्गेषु लोकेषु शरीरत्वाय कल्पते॥
(कठ० २।३।४)

'यदि शरीर छूटनेके पूर्व इस देहमें ब्रह्मको जान लेता है, तो बन्धनसे मुक्त हो जाता है; और यदि नहीं जान पाता तो इन जन्म-मरणशील लोकोंमें वह शरीरभावको प्राप्त होता है।'

उपनिषदोंके इन समस्त सिद्धान्तोंका निष्कर्ष श्रीमद्भगवद्गीतामें श्रीकृष्णभगवान्ने अर्जुनको व्यक्त किया था, वह इस प्रकार है—'जो मनुष्य भगवान्की शरणमें जाकर जरा-मरणसे छूटनेके लिये यत्न करते हैं, वे ब्रह्म तथा सम्पूर्ण अध्यात्म एवं कर्मोंको जान लेते हैं। जो पुरुष अन्तमें भगवान्को ही स्मरण करता हुआ शरीरका त्याग करता है, वह निस्संदेह भगवान्के साक्षात् स्वरूपको प्राप्त करता है।'

अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम्।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः॥
यं यं वापि स्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः॥
(गीता ८। ५-६)

'जो प्राणी अन्तकालमें अनन्यभावसे भगवत्परायण होकर शरीर त्याग करता है वह निस्संदेह भगवत्स्वरूपको प्राप्त होता है।' श्रीकृष्णने अधिक स्पष्टरूपसे कहा कि 'हे अर्जुन! जो जिस भावका स्मरण करते हुए अन्तमें शरीर त्याग करता है, वह उसे ही प्राप्त करता है। अतः सदा भगवच्चिन्तन करना चाहिये।' भरत-जैसे तपस्वीको इसीलिये मृगयोनिमें जाना पड़ा था। इसके विपरीत अजामिल तथा जटायुको सद्गति प्राप्त हो गयी थी। इनको अन्तमें भगवत्सामीप्य प्राप्त हो गया था। 'जो पुरुष प्रयाणकालमें निश्चल मन, भक्ति, योगसे भृकुटीके मध्यमें प्राणको अच्छी प्रकार स्थापितकर उस दिव्य परम पुरुषका स्मरण करता है वह परमात्माको प्राप्त करता है।' इसी प्रकार (गीता ८। १०) 'जो पुरुष 'ॐ' इस एकाक्षर ब्रह्मका उच्चारण करता हुआ उसके अर्थस्वरूप परमात्माके रूपका चिन्तन करता हुआ शरीर त्याग करता है, वह परमगति पाता है।' (गीता ८। १३) अनन्यभावसे भगवत्परायण नित्य योगीको परमात्मा सदा सुलभ होते हैं। यथा—

मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम्।
नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः॥
आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते॥
(गीता ८। १५-१६)

'परम सिद्धिप्राप्त महात्माजन परमात्माको पाकर दुःखके आगार अशाश्वत पुनर्जन्मको नहीं प्राप्त करते। सभी लोक

ऐसे हैं, जहाँसे पुनः आवर्तन होता है; किंतु जो परमात्माको प्राप्त कर लेता है, उसका पुनर्जन्म नहीं होता।' भगवद्वियोगमें कभी सुख नहीं मिलता। गङ्गा, सूर्य, चन्द्र, कमल तथा समुद्र भगवान्‌के चरण, नयन, नाभिसे बिछुड़कर इधर-उधर दुःख पा रहे हैं। समुद्र तो भगवद्विरहमें ही जलकर छार हो गया। इस अभिप्रायको महाकवि सूरदासने इस प्रकार लिखा है—

बिरही कहाँलौं आपु सँभारै।
जब तैं गंग परी हरि पद तै बहिबो नाहिं निवारै॥
नयनन तें रबि बिछुरि भँवत रहै ससि अजहूँ तन गारै।
नाभि ते बिछुरे कमल कंठ भए सिंधु भए जरि छारै॥

इसी अभिप्रायकी वाणियाँ संतोंकी भी हैं कि 'भगवत्प्राप्तिसे ही परमपद मिलता है। अन्य स्वर्गादि लोक सभी अस्थायी हैं। जिस प्रकार कोयलेको सौ मन साबुनसे धोइये, उसकी कालिमा नहीं मिटती, वह अग्निको पाकर ही धधकता अङ्गार बन जाता है। उसी भाँति जीव भगवत्सामीप्य पाकर सभी पाप-तापोंसे छुटकारा पा लेता है। उसे आवागमनके चक्रसे मुक्ति मिल जाती है।'

श्रीकृष्णभगवान्‌ने ब्रह्मलोकतकको पुनरावर्ती कहा है। ज्ञातव्य यह है कि साधारणतया (१) पृथ्वी, (२) स्वर्ग, (३) पाताल तीन ही लोक हैं; किंतु एक विभाजनमें पृथ्वीके ऊपरके क्रमशः (१) भूर्लोक, (२) भुवर्लोक, (३) स्वर्लोक, (४) महर्लोक, (५) जनलोक, (६) तपलोक, (७) सत्य या ब्रह्मलोक आदि सात तथा नीचे क्रमशः (१) अतल, (२) वितल, (३) सुतल, (४) तलातल, (५) महातल, (६) रसातल, (७) पाताल—ये सात लोक हैं। इस प्रकार कुल चतुर्दश लोक माने जाते हैं।

ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः।
जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः॥
(गीता १४। १८)

'सत्त्वगुणी स्वर्गादि ऊर्ध्वलोकोंमें जाते हैं, राजस पुरुष मनुष्यलोकमें ही रहते हैं और तामसी पुरुष कीट-पशु आदि योनियों एवं पापात्मा निम्नलोकोंमें जाते हैं।' ऊपरके लोकोंका विवरण इस प्रकार है—(१) भूलोक मानवनिवास पृथ्वी है। (२) भुवर्लोक पृथ्वी तथा सूर्यलोकके मध्यका है। यहाँ मुनि तथा सिद्धोंकी स्थिति मानी गयी है। यहीं पितृलोक भी है। (३) स्वर्लोक इन्द्रका स्थान—यह सूर्य तथा ध्रुवके मध्यभागमें है। (४) महर्लोक भृगु तथा ब्रह्माके साथ रहनेवाले लोगोंका लोक है। (५) जनलोक—यहाँ ब्रह्माके पुत्र सनक, सनन्दन तथा सनत्कुमार रहते हैं। (६) तपलोक—यहाँ विराज लोगोंकी स्थिति मानी जाती है। (७) सत्य या ब्रह्मलोक—ब्रह्माका लोक। इस लोककी प्राप्तिके पश्चात् पुनर्जन्मसे छुटकारा मिल जाता है। इनमें प्रथम तीन लोक ब्रह्माके एक दिन (चार युगोंकी एक सहस्र चौकड़ियाँ या चौदह इन्द्रोंकी आयुका समय) के पश्चात् नष्ट हो जाते हैं। अन्तिम तीन जन, तप तथा सत्यलोक भी ब्रह्माके जीवन या उनकी सौ वर्षकी आयुके पश्चात् समाप्त हो जाते हैं। इसीलिये श्रीकृष्णभगवान्‌ने ब्रह्मलोकतकको पुनरावर्ती कहा है। यद्यपि यह सर्वोत्तम मूर्धन्य लोक है। चतुर्थ महर्लोक अन्तिम तीनके समान ही स्थायी है; किंतु जब प्रथम तीन लोक प्रलयाग्निमें दग्ध हो जाते हैं, तब यह भी धधकता रहता है, अतः निवास योग्य नहीं है। एक अन्य प्रकारका विभाजन इस प्रकार है—पृथ्वी, आकाश, स्वर्ग, मध्यान्तराल, जनलोक, ऋषिलोक तथा सत्यलोक। इनमें जनलोकमें ऐसे जीवोंकी स्थिति मानी जाती है, जो नष्ट हो जाते हैं, पुनः जन्म लेते हैं। ऋषिलोकमें ब्रह्मपुत्रोंका निवास माना गया है। वेदान्त तथा सांख्यशास्त्रोंमें आठ लोक माने गये हैं, जो इस प्रकार हैं—(१) ब्रह्मलोक—उत्तम कोटिके देवता यहाँ रहते हैं। (२) पितृलोक—पितृ, ऋषि प्रजापतियोंका लोक। (३) सोमलोक—चन्द्र तथा ग्रह-नक्षत्रोंका लोक। (४) इन्द्रलोक—यहाँ निम्नस्तरके देवता निवास करते हैं। (५) गन्धर्वलोक—यहाँ दैवी आत्माएँ निवास करती हैं। (६) राक्षसलोक—राक्षसोंका, (७) यक्षलोक—यक्षोंका तथा (८) पिशाचलोक—भूत-प्रेत-पिशाचोंके लोक माने जाते हैं। कहीं आठ लोकपालोंके कारण पूर्वादि दिशाओंको लोक माना गया है।

श्रीकृष्णभगवान्‌की दृष्टिमें सभी लोक ब्रह्मलोकतक पुनरावर्ती हैं। 'तज्, तल्' तथा 'यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम।' की सम्मतिके अनुसार भी 'मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते।' यही एकमात्र महौषधि भवभय-निवृत्ति तथा पुनरागमनसे मुक्तिके लिये स्वीकारयोग्य है।

शाश्वत सुख, शान्ति, परमानन्दकी प्राप्ति पूर्ण सच्चिदानन्द परब्रह्म परमात्मस्वरूप श्रीकृष्णमें सर्वात्मना तादात्म्य प्राप्त करनेसे ही उपलब्ध होती है।

भारतीय दर्शनकी यह पावन भावभूमि ही उसे विश्वकी सर्वोत्तम ज्ञानराशिका गौरव प्रदान करती है। अध्यात्म-शास्त्रका ऐसा उच्च स्तर अन्यत्र दुष्प्राप्य है। इस स्थितिका पा लेना ही शब्दान्तरोंमें 'ब्राह्मी स्थिति' है। अतएव इस देशके योगी, महात्मा तथा उच्च स्तरके साधक इसी परमपद-को अपने जीवनका परम साध्य मानकर प्रार्थना करते हैं—

विषीदता नाथ विषानलोपमे
विषादभूमौ भवसागरे विभो।
पुरः प्रतीकारमपश्यताधुना
मयायमात्मा भवते निवेदितः॥

युधिष्ठिर महान्

[महाभारतसे]

(लेखक—श्रीगिरिजाशंकर त्रिवेदी)

पाण्डव वनवासकालमें एक दिन घूमते-घूमते ऐसे स्थानपर पहुँचे, जहाँ कहीं जल नहीं था और उनको बड़ी प्यास लगी थी। सभी व्याकुल हो रहे थे। युधिष्ठिरने नकुलसे कहा—'पेड़पर चढ़कर देखो तो क्या आस-पास कहीं जल दीखता है?'

नकुल पेड़पर चढ़ गया। इधर-उधर देखकर बोला—'हाँ, भाईजी! उस ओर हरियाली दीख रही है। उसीके बीच स्वच्छ जलाशय भी नजर आ रहा है। आस-पास पक्षी भी कलरव कर रहे हैं।' युधिष्ठिरने तूणमें पानी भर लानेका आदेश दिया।

साफ-स्वच्छ जल भरा था। ठंढा-पानी देखकर पीनेके लिये नकुल झुका। तभी उसे एक आवाज सुनायी दी—'साहस रखनेवाले भाई! मेरा नियम है कि मेरे प्रश्नोंका उत्तर दे पानेवाला ही इस पानीको पी सकता है।'

पर नकुल इतना प्यासा था कि उस आवाजको अनसुनी करके उसने जैसे ही जल मुँहमें लगाया कि चेतनाशून्य होकर जलाशयके किनारे ही लुढ़क गया।

नकुलको देर हुई, तो युधिष्ठिरने सहदेवको पता लगाने भेजा। पर उसकी भी वही हालत हुई। अर्जुन गया, फिर भीम—पर सभीकी वही दशा हुई। जब चारों भाई न लौटे, तो युधिष्ठिर स्वयं वहाँ पहुँचे। चारों अचेत पड़े थे। युधिष्ठिर यह देखकर बड़े दुखी हुए। उन्होंने सोचा—'इस जलाशयका पानी कहीं जहरीला तो नहीं है! या किसी अन्य चमत्कारिक शक्तिने मेरे बलवान् भाइयोंकी यह दशा कर दी। मैं जरा पीकर तो देखूँ।' जैसे ही वे पीनेके लिये झुके, उन्हें सुनायी पड़ा—'हे राजपुत्र! मैंने ही तुम्हारे भाइयोंकी यह दशा की है। मैं तुमसे जो प्रश्न करूँ, पहले उनका उत्तर दो। फिर जल पीना, नहीं तो तुम्हारी भी यही दशा होगी।'

जलाशयमें खड़े बगुलेको यह बोलते देखकर युधिष्ठिरके आश्चर्यका ठिकाना न रहा। वे बोले—'बगुला कभी इस तरह नहीं बोल सकता। तुम अवश्य कोई अलौकिक जीव हो। पहले यह बताओ कि तुम हो कौन? फिर मैं तुम्हारे प्रश्नोंका उत्तर दूँगा।'

'मैं यक्ष हूँ।' कहकर बगुलेने अपना असली रूप प्रकट किया।

'अब तुम प्रश्न कर सकते हो।' धर्मराजने आदेश दिया।

'स्वर्गमें जानेके लिये सबसे उत्तम मार्ग क्या है?'

'सद्गुण।'

'सबसे बड़ा सद्गुण क्या है?'

'किसीसे ईर्ष्या न करना, किसीकी निन्दा न करना।'

'मनुष्यका सबसे बड़ा शत्रु कौन है?'

'काम-क्रोध।'

'एक ही मनुष्य कब श्रीमन्त और उसी तरह एक ही समय गरीब कहलाता है?'

'जिनके पास हो बहुत अधिक, पर किसीको कुछ न दे।'

'गरीब आदमी किस प्रकार श्रीमन्त बन सकता है?'

'पासमें जो भी हो, उसीमें संतोष माने।'

'संसारसे बड़ा तथा बादलोंसे भी ऊँचा क्या है?'

'माता-पिताका प्रेम।'

'सुखी होनेका क्या साधन है?

'सत्य बोलो और दयावान् रहो।'

'सबसे बड़ा आदमी कौन है?'

'जो सुख-दुःखमें समान रहे।'

और भी कई प्रश्नोत्तर हुए। अन्तमें यक्षने कहा—'धर्मराज! आपके उत्तरोंसे मैं बड़ा संतुष्ट हूँ। अब आप स्वस्थतासे पानी पियें। जो कुछ माँगना चाहें, प्रसन्नतासे माँग लें। अपने भाइयोंमेंसे किसी एकका जीवन वापस माँग सकते हैं।'

धर्मराज बोले—'हे यक्ष! यदि सचमुच तुम मुझपर प्रसन्न हो, तो मेरे भाई नकुलको जीवनदान दो।'

यक्ष हँस पड़ा—'अरे धर्मराज! नकुल तो माद्रीका बेटा है। वह तो सौतेला भाई है। सगे भाई—अर्जुन अथवा भीममेंसे किसीका जीवन माँगो। क्या अपने सगे भाइयोंसे तुम्हारा प्रेम नहीं?'

धर्मराज बोले—'मैं अपने सभी भाइयोंको चाहता हूँ। पर मैं ऐसी स्थितिमें नकुलको जिंदा देखना चाहता हूँ।'

यक्ष आश्चर्यमें पड़ गया—'पर किसलिये?'

युधिष्ठिर गम्भीर होकर बोले—'हे यक्ष! मैं माँ कुन्तीका पुत्र हूँ और नकुल माँ माद्रीका बेटा है। जब माद्री माता सती हुई तो अपने दोनों पुत्रों—नकुल तथा सहदेवको सौंप गयीं। कुन्ती माता उनपर भी हम-जैसा ही प्रेम रखती हैं। हम तेरह वर्षके वनवासके बाद पाँच भाइयोंमेंसे जब दो भाई घर पहुँचेंगे, तो माता कुन्ती दुखी तो होंगी ही, पर उससे अधिक दुःख उन्हें अपने दो सगे बेटोंको देखकर होगा। वे सोचेंगी कि शायद हमने नकुल-सहदेवकी सँभाल नहीं की। लेकिन जब वह माद्री माताके एक पुत्रको हमारे साथ देखेंगी, तो उतना दुःख नहीं मानेंगी। इसलिये मैं चाहता हूँ कि तुम नकुलको जिला दो।'

युधिष्ठिरके ये शब्द सुनकर यक्ष गद्गद हो उठा और बोला—'हे धर्मराज! तुम सचमुच महान् हो। तुम्हारी माँग बहुत उत्तम है। मैं तुमसे बड़ा प्रसन्न हूँ। तुम्हारे सभी भाई जीवित हो उठें।'

चारों भाई उठकर खड़े हो गये और युधिष्ठिरके नेत्र आनन्दसे छलछला आये।

अवतार-जन्म-कर्म-रहस्य

[किन्हीं अज्ञातनाम्न प्राचीन महात्माका लिखा हुआ]

(प्रेषक—श्रीराघेशरणजी 'युगलदासी')

श्रीठाकुरजी महाराज उवाचः—

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया॥

(गीता ४। ६)

अहो! मैं अजन्मा है करिकै हू जन्म लऊँ हूँ, अव्यय है करिकै हू घटूँ-बढ़ूँ हूँ, विकार—व्यय कूँ प्राप्त जैसौ लगूँ हूँ, तथा सर्व-तन्त्र-स्वतन्त्र ईश्वर है कै हू जन्म-कर्म-परतन्त्र बनि जाऊँ हूँ और विभु-व्यापक है करि कै हू मैया यशोदाके उत्सङ्गमें समाय जाऊँ हूँ।

कर्माण्यनीहस्य भवोऽभवस्य ते
दुर्गाश्रयोऽथारिभयात् पलायनम्।
कालात्मनो वत्सरमप्ययुताश्रयः
स्वात्मन् रतेः खिद्यति धीर्विदामिह॥

(श्रीमद्भा० ३। ४। १६)

अर्थात् अजन्माकौ जन्म कैसे होय है, कामनाशून्य आप्तकाममें कर्म कैसे होय हैं। कालहूको महाकाल मैं मैयाकी साँटी ते कैसे रोऊँ हूँ। तथा शत्रूनके भय सौं रण छाँड़ि द्वारिकामें कैसे जाय दुबकूँ हूँ और आत्माराम पूर्णकाम भगवान् है करिके हू अनन्त कोटि रमणीनके सङ्ग कैसे रमण करूँ हूँ। ऐसे-ऐसे विरुद्ध धर्म-कर्म मो भगवान्में कैसे होय हैं। याको अन्त न पाय बड़े-बड़े धीमान्-बुद्धिमान् जन हू हार जायँ हैं।

निर्गुन रूप अति सहज है, सगुन न जानै कोय।
निगम-निगम आगम-अगम, सुनि मुनि मन भ्रम होय॥

सो मेरे अवतारको रहस्य, मेरे जन्म-कर्मको रहस्य बड़ो ही गहन है। ता रहस्य कूँ हृदयङ्गम किये बिना जीव आनन्द सौं वञ्चित होय सूखे कुतर्कनमें फँसिकै रस सौं हाथ धोय विष कूँ पीवे लगे है, तथा अपने सहज उद्धारको मार्ग अपने

हाथन रुद्ध करिके नरकको मार्ग पूर्ण खोल लेय है। अतएव कल्याणप्रेमी जनन कूँ श्रद्धा-विश्वासपूर्वक मेरे अवतार-जन्म-कर्मको रहस्य समझनौ अति आवश्यक है। वेद-शास्त्रनने मेरे जन्म-कर्म अनेकन माँति सौं गाये हैं, परंतु उनके तात्पर्य कूँ एकाकी मैं ही यथार्थ समझूँ हूँ। कारण कि वेद-शास्त्र तौ मेरी नासिकाको ही निःश्वास है, मेरी नासिकाकी ही तो वाणी है। नासिकाकी वाणी तौ नासिका वारौ ही यथार्थ समझि सकै है। अन्यन कूँ तौ भ्रममें ही डार देय है।

'वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम्।' (गीता १५। १७)

रहे वेदकर्ता ब्रह्मा, सो तौ मेरौ ही पौत्र है। वह भला अपने पितामहके जन्म-कर्मके रहस्य कूँ कहा जानै। फिर ब्रह्माके रचे भये जीव तौ मेरे प्रपौत्र ही भये, फिर वे अपने प्रपितामहके जन्म-कर्मके रहस्य कूँ कहा जान सकैं हैं। यथा—

न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः।
अहमादिर्हि देवानां महर्षीणां च सर्वशः॥
(गीता १०। २)

अर्थात् मेरे विचित्र अवतार-जन्म-कर्म कूँ देवगण और महर्षिगण हू नहीं जानैं हैं, कारण कि सकल देवर्षि-महर्षि-गणनको मूल आदि कारण तौ मैं ही हूँ। तब ही तौ शतधृति ब्रह्मा बोल्यो—

को वेत्ति भूमन् भगवन् परात्मन्
योगेश्वरोतीर्भवतस्त्रिलोक्याम्।
क्व वा कथं वा कति वा कदेति
विस्तारयन् क्रीडसि योगमायाम्॥
(श्रीमद्भा० १०। १४। २१)

अर्थात् हे भगवन्! आप कहाँ, कैसे, कितनी बार और कब-कब अपनी योगमाया कूँ विस्तार करिके लीला करो हो—या बात कूँ त्रिलोकीमें कौन जाने है, अर्थात् कोई नहीं जानै है। सो बुद्धिवारे शतधृति ब्रह्माकी तौ यह बोलन है। वहाँ ब्रह्माके रचे भये भुनगा-सरीखे यह जीव बूझैं हैं!! कितनौ पानी!!! बलिहारी है या साहसकी!! चार अक्षर पढ़ि कै, अक्षरातीत परात्परब्रह्म जो मैं, सो मेरी थाह लैनो चाहै हैं! अपनी विद्या-बुद्धिकी फुरफुरीमें यह पण्डित बने भये मूढ़ प्राणी कहै हैं—'अजी! हम अवतार-फवतार कछू नहीं मानैं हैं! निराकार हू कभू साकार है सकै है!! गुणातीत हू कहूँ सगुण देहधारी है सकै है!!! अजन्मा को हू कहूँ जन्म है सकै है!! व्यापक हू कहूँ गर्भमें आय सकै है! वह परात्पर ब्रह्म तत्त्व तो अदृष्ट है—अग्राह्य है—अलक्षण है—अचिन्त्य है—अगम्य है—अद्वैत है। इत्यादि-इत्यादि। वह सगुण साकार कदापि नहीं है और न कबहूँ है सकै है।

और जब मैं स्वयं उनसौं कहूँ हूँ कि 'नहीं-नहीं! वह परात्पर ब्रह्म तौ साकार-नराकार-श्यामसुन्दराकार ही है और वह परब्रह्म तौ मैं ही हूँ और तुम्हारे ब्रह्मकी प्रतिष्ठा हू मैं ही हूँ—'ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहम्' (गीता १४। २७)

तथा मेरी महिमा को नाम ही परब्रह्म है—

'महिमानं परब्रह्मेति शब्दितम्'

श्रुति हू तौ कहै है कि तुम्हारौ परब्रह्म मेरे पाद-नख-ज्योत्स्नाको प्रकाशमात्र है—

यस्य पादनखज्योत्स्ना परब्रह्मेति गद्यते।
अहो मूढा न जानन्ति कृष्णस्य नित्यवैभवम्॥

अतएव तुम मूढ़ हो कि जो तुम मेरी महिमा कूँ तो मानो हो, परंतु स्वयं महिमावान् मों कूँ नहीं मानो हो। मेरे धर्म कूँ तो मानो हो, परंतु स्वयं धर्मी मों कूँ नहीं मानो हो। मेरे अंश कूँ तो मानो हो, परंतु स्वयं अंशी मों कूँ* नहीं मानो हो। मेरी ज्योत्स्ना कूँ तो मानो हो, परंतु स्वयं चन्द्रस्वरूप मों कूँ नहीं मानो हो। तथा मेरे प्रकाश कूँ तो मानो हो, परंतु स्वयं सूर्यस्वरूप मोंकूँ नहीं मानो हो। बलिहारी है तुम्हारी या बुद्धिकी गहराई पै।' जब मैं यों कहूँ हूँ, तौ वे हँसैं हैं और कहैं हैं—'रहन देओ! बनो मत!! हम जाने हैं जैसे तुम परब्रह्म हो!!! तुम झूँठे, तुम्हारी देह झूँठी, तुम्हारौ भगवान् पनौ सब झूँठो है, सब उपाधि है, मायिक है; कारण कि—

'यद् यद् इन्द्रियजन्यं तत्तदैव मायिकम्।'

अर्थात् जो कछू इन्द्रियन करिकै देख्यौ, सुन्यौ, जान्यौ

---

* जो सबके हृदयमें अवस्थित हूँ, अर्थात् प्राणिमात्रके रोम-रोममें परमानन्द बनकर व्याप्त हूँ जैसे—

जय जय अविनासी सब घट बासी व्यापक परमानन्दा।
(श्रीरामचरितमानस)

जाय है, वह सब नाम-रूप-क्रियात्मक प्रपञ्च है, मायाको विकार है—

'वाचारम्भणं विकारो नामधेयम्।' (श्रुति)

या सौं तुम्हारो नाम-रूप-देह-गुण आदि सबै मिथ्या हैं, मायिक हैं, शास्त्र याही सौं स्पष्ट ही तुम्हारी देह कूँ—'मायातनु, मायामनुज (मानुजी तनु), मायया' इत्यादि शब्दन सौं मायिक, मिथ्या बतावै है। फिर तुम कैसे नित्य-अजर-अमर अव्यय परब्रह्म बनो हो!'

अजी, ठीक ही है; जैसे सावनके आँधरे कूँ हरो-ही-हरो सूझै है, तैसे ही मायाके रचे भये, मायामें फँसे भये, माया-के जीवन कूँ माया-ही-माया सूझै है। वे मेरी दिव्य अविचिन्त्य योगमाया कूँ कहा जानैं कि जाके आश्रय सौं मैं जन्म लऊँ हूँ, लीला करूँ हूँ तथा अन्तर्द्धान है जाऊँ हूँ—

'प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया॥' (गीता ४। ६)

ज्ञानी अपने ज्ञानके गर्वमें समझै है कि प्रकृतिरूप माटीके बिना देह बनै ही नहीं है, और जो देह बनै है सो सब प्रकृतिजन्य है, विकारी है, नाशवान् है, अनित्य है। अतएव अप्राकृतिक दिव्य नित्य देह केवल वन्ध्यापुत्रवत् शून्य—शब्दमात्र है। परंतु या प्राकृत सृष्टिको कर्ता कुम्हार तौ ब्रह्मा ही है ना! कुम्हार ते अधिक माटी सकोरानको ज्ञान अन्य कौन कूँ होय है? सो यह ज्ञानीमन्य ब्रह्माते तौ बूझि कै देखैं कि जब वह मेरे ब्रजके बालक-वत्सन कूँ अपहरण करिकै लै गयौ हुतौ, तौ एक वर्ष पश्चात् वानै ब्रजमैं कौन ते बालक-वत्सन कूँ खेलते पायौ हुतौ? तौ ब्रह्मा यही कहैगो कि मोकूँ समस्त बालक-वत्सनके दर्शन साक्षात् श्रीकृष्णस्वरूप सौं ही भये हुते। फिर कोई बूझै कि सृष्टिकर्ता तौ तुम हौ। फिर यह कौन नै बनाये, और कौन-सी माटी सौं बनाय लीने। तौ ब्रह्मा या ही कहैगो कि भाई वे बालक-वत्स कोई सत्त्व-रज-तमकी माटी सौं नाहीं बने हुते, वे तौ केवल विशुद्ध सत्-चित्-आनन्द मात्रकी रसमयी मूर्ति हुतीं—

'सत्यज्ञानानन्तानन्दमात्रैकरसमूर्तयः।'

(श्रीमद्भा० १०। १३। ५४)

तथा मों पै कृपा करिकै अपनी 'मन्जुमहिमा' दरसायबे-के निमित्त स्वेच्छा सौं स्वयं प्रभुने अपनै भीतर माऊँ सौं प्रकट किये हते, वह कोई प्राकृत भूतमय सृष्टि नाहीं हुती—

'स्वेच्छामयस्य न तु भूतमयस्य कोऽपि।'

(श्रीमद्भा० १०। १४। २)

तात्पर्य यह कि मैं जड़ प्रकृतिके आश्रय बिना ही अपनी योगमायाके बलसौं दिव्य स्वेच्छामय अनन्त सृष्टि उत्पन्न करि सकूँ हूँ। जब एक मकरी अपने भीतर माऊं सौं डोरा निकारि जाल बनाय सकै है, जब शालग्रामशिला मैं स्वर्ण दैबेकी शक्ति है। जब चिन्तामणि, कामधेनु, कल्पतरु अपने भीतर माऊं सौं मुखमाँगी वस्तु उत्पन्न करि सकैं हैं। जब एक जादूगर नट शून्य आकाशमें सौं जो वस्तु चाहौ सो निकारिकै दिखाय सकै है; तौ फिर मैं महा-माया-पति माधव सत्यसङ्कल्पी तथा—'कर्तुमकर्तु-मन्यथाकर्तुम्' समर्थ है करि कहा साकार-निराकार, सगुण-निर्गुण, विभु-परिच्छिन्न—

'अणोरणीयान् महतो महीयान्' (कठोपनिषद् १। २। २० तथा श्वेताश्वतरोपनिषद् ३। २०) उभय एक ही संग नहीं है सकूँ हूँ! जब—

'अपाणिपादो जवनो ग्रहीता
पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः।'

(श्वेताश्वतरोपनिषद् ३। १९)

—श्रुति स्पष्ट कहै है कि मेरे हाथ नहीं हैं; परंतु ग्रहण करूँ हूँ। पाँव नहीं हैं; परंतु चलूँ हूँ। आँख नहीं है; परंतु देखूँ हूँ। कान नहीं हैं; परंतु सुनूँ हूँ। या में श्रुति केवल मेरे प्राकृत हाथ-पाँव-आँख-कान आदि इन्द्रियन कूँ ही निषेध करै है। और अप्राकृत देह, इन्द्रिय, मन कूँ सिद्ध करै है। अन्यथा निर्विशेष परब्रह्म सत्ता तौ निष्क्रिय है—सर्व प्रकारकी क्रियान करिकै शून्य है। अतएव जब श्रुति क्रिया बतावै है तौ मन, इन्द्रिय, देह कूँ हूँ बतावै है। हाँ, वह मेरी देह प्राकृत त्रिगुणमय न है कै अप्राकृत निःस्त्रैगुण्य दिव्य देह है। जैसे मेरी देह दिव्य है, इच्छामय है, तैसे ही मेरो अवतार-जन्म-कर्म हू दिव्य है। जीव स्वेच्छा सौं नाहीं जन्मैं है, परंतु प्रकृतिके आधीन है कै देह पावै व खोवै है—

'भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात्।'(गीता ९। ८)
'भूत्वा भूत्वा प्रलीयते।' (गीता ८। १९) 'तत्रैवाव्यक्त-संज्ञके॥' (गीता ८। १८) और मैं प्रकृति कूँ स्वाधीन करिकै स्वेच्छा सौं योगमायाके आश्रय सौं प्रकट होऊँ हूँ।—'प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया।'

(गीता ४ । ६) **'मायया'** कौ अर्थ मिथ्या माया सौं अथवा जड़ प्रकृति सौं नाहीं है । **'माया'** कौ अर्थ है—**'कृपा-दया'** एवं द्वितीय अर्थ है—**'योगमाया'**, जो मेरी अघटन-घटना-पटीयसीस्वरूपा लीला-महाशक्ति है ! अतएव शास्त्रनमें जहाँ-जहाँ मेरी देह कूँ—**'मायातनु-मायामनुज-मानुषीतनु-भातिमायया'** इत्यादि कही है; वहाँ-वहाँ माया कौ अर्थ मिथ्या-नारायण कपट नहीं है, परंतु माया कौ अर्थ है, दया अथवा योगमाया । मैं संसारी जीवनके ऊपर दया करिकै अपनी योगमायाके आश्रय सौं प्रकट होऊँ हूँ । याही सौं **'भवामि'** न कहि कै **'सम्भवामि'** कह्यौ, अर्थात् सम्यक्‌रूप सौं, शोभनरूप सौं, मनोहर रूप सौं मैं प्रकट होऊँ हूँ । मल-मूत्रमें सन्यौ भयौ, जारमें फँस्यौ भयौ, रोमतौ करामतौ मैं नाहीं जन्मूँ हूँ । मैं तौ मुकुट-कुण्डल-पीताम्बर-बनमाल पहिरे, शंख-चक्र-गदा-पद्म धारण किये मञ्जुलरूप सौं ही प्रकटूँ हूँ । यह है मेरे जन्मकी दिव्यता । और हू अनेकन भेद मेरे और जीवके जन्ममें हैं, जैसे जीव अपने शुभाशुभ कर्मनके फल कूँ भोगिबे कूँ आवै है ! और मैं जीवन पै अहैतुकी कृपा करिकै आऊँ हूँ । जीव जन्म लैबे मैं परवश होय है, न जानै मरिकै कहाँ जायगौ और भूत-प्रेत-कूकर-शूकर कौन-सी योनि मैं जन्मैगो । और मैं स्वतन्त्र हूँ, जब जहाँ जैसौ प्रयोजन होय है तहाँ तैसी देह प्रकट करूँ हूँ । जीव दश मास गर्भवास करिकै माता की योनि सौं जन्मैं है, और मैं विशुद्धसत्त्ववान् भक्तके हृदय माऊँ सौं प्रकटूँ हूँ । जीवकी देह जड़ त्रिगुणमय होय है; मेरी देह दिव्य निस्त्रैगुण्य सच्चिदानन्दमय होय है । जीवकी देहमें जरा नाम वृद्धावस्था है, मेरी देहमें किशोर अवस्थातक है । चाहे मैं शत वर्ष लीला करूँ, चाहे सहस्र वर्ष, मेरी दाढ़ी-मूँछ कबहूँ नाहीं निकसैं हैं । जीव कूँ अपने एक जन्मकी हू बात स्मरण नाहीं रहै है, और मो कूँ अनादि काल पर्यन्तकी हू सुधि रहै है—

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन ।
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परन्तप ॥

(गीता ४ । ५)

'अर्थात् हे अर्जुन ! मेरे और तेरे अनेकन जन्म है चुके हैं, परंतु मैं ही उन सबन कूँ जानूँ हूँ, तू नहीं जानै है ।'

जीव देह कूँ पायकै अपने चैतन्य अंशस्वरूप कूँ भूलिकै अपने कूँ देहरूप ही मान बैठे है । पर मैं तौ जन्मत ही अपनी ईश्वरता प्रकट करूँ हूँ और निज स्वरूप कूँ कबहूँ नाहीं भूलूँ हूँ । यह है मेरे जन्मकी दिव्यता । ऐसे ही मेरे कर्म हू में दिव्यता है । जीवके कर्म मलीन होय हैं; मेरे कर्म उज्ज्वल होय हैं । जीवके कर्म अपने एवं अन्यनके अन्तःकरण कूँ प्रायः मलिन करि देय हैं, और मेरे कर्म सबनके हृदय कूँ शुद्ध एवं स्वच्छ करि देय हैं । जीवके कर्म काम-क्रोध-लोभ-मोह-तम-अन्धकारकी ओर लै जावैं हैं, और मेरे कर्म जीवन कै हृदयान्धकार कूँ नाश करिकै, धर्म-भक्ति-ज्ञान-वैराग्यकी ओर लगावैं हैं । जीवके कर्म स्वार्थगन्धमय होय हैं, मेरे कर्म विशुद्ध कृपामय होय हैं । जीव वासना कै आधीन कर्म करै है, स्वार्थ-वासना सौं ही पाप होय है, या सौं जीव के कर्म पापमय होय हैं, और मों मैं कोऊ स्वार्थ कामना नाहीं है, मैं तौ आत्माराम-आप्तकाम-निष्काम हूँ । भक्तकी कामना ही मेरी कामना है, अतएव मैं केवल स्वेच्छा सौं लोकहितार्थ ही कर्म करूँ हूँ । जीवके कर्म अति क्षुद्र होय हैं, मेरे कर्म एक-ते-एक अद्भुत-अलौकिक होय हैं । साधारण जीवकी तौ चलै कहा, ब्रह्मा-विष्णु-रुद्र-इन्द्र आदि देवाधिदेव हू वैसे कर्म नाहीं करि सकैं हैं । तात्पर्य यह कि जीव कौ जन्म और जीवन दुःखमय एवं पराधीन होय है, मेरौ जन्म एवं जीवन लीलामय और स्वाधीन होय है । एक शब्दमें, जीवकी देह कर्म-भोग-देह है, और मेरौ विग्रह इच्छामय लीलाविग्रह है—

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः ।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन ॥

(गीता ४ । ९)

अर्थात् या भाँति सौं जो मेरे जन्म-कर्म कूँ **'तत्त्वतः'** नाम मूल स्वरूपते भलीभाँति जान लेय है वह मेरे अवतार-रूप कूँ माने बिना भजे बिना नाहीं रहि सकै है । वह मेरी अहैतुकी दयालुता, भक्तवत्सलतारूप गुणके हाथन बिक जाय है । अतएव ऐसौ अवतार-रहस्य-ज्ञानी जीव परम श्रद्धालु, परम-भक्त बन जाय है, और अन्त कूँ **'त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति'**—देह कूँ त्याग कै पुनर्जन्म कूँ प्राप्त नाहीं होय है । किंतु **'मामेति'**—मों कूँ, मेरे परम पद कूँ ही प्राप्त होय है । परंतु जो मेरे जन्म-कर्म कूँ मायिक-प्राकृतिक जीववत् मानै हैं, मैंहू ऐसे नास्तिकन कूँ नाहीं मानूँ हूँ । मैं कैसो कि जैसे कूँ तैसो—

'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।'

(गीता ४ । ११)

यह सिद्धान्त तौ मेरौ जगत्प्रसिद्ध ही है—

जो तू आवै एक पग, मैं आऊँ पग साठ।
जो तू करौं काठ सूँ, मैं लोहेकी लाठ॥

अतएव जो मों कूँ भजै है, मैं हू वाकूँ वाते शत-गुनौ भजूँ हूँ; और जो मों कूँ तजै है, मैं हू वाकूँ तजि दऊँ हूँ। वह अपने धर्म-कर्म ज्ञान-वैराग्य-योग आदि साधनन के बल सौं चाहे भव पार होवै चाहे मँझधार मैं डूब जावै, मैं वाकी नैक हू खोज-खबर नाहीं राखूँ हूँ। परंतु जो दीन हैं, शरणागत हैं, मेरे नाम-रूप-लीला-धाममें आसक्त हैं, वे भले ही **'सुदुराचारी'** होयँ, वे मेरे हैं, और मैं बिनकौ हूँ। बिनकौ **'सुदुराचार'** सौं छुड़वायबे व बिनके सुधारिबे कौ उपाय मैं स्वयं करूँ हूँ, और बिनके तारिबे कौ भार मैं अपनै कन्धान पै लऊँ हूँ—मैं अपने भक्तन कौ नाश कबहूँ नाहीं होन दऊँ हूँ—

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति॥

(गीता ९ । ३०-३१)

प्रारब्ध-विचार

(१)

प्रारब्ध और कर्मस्वातन्त्र्य

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥

(गीता १८ । ६१)

'अर्जुन! ईश्वर समस्त प्राणियोंके हृदयमें रहता है। यन्त्रपर चढ़ेके समान सब प्राणियोंको वह अपनी मायासे घुमाता रहता है।'

'नट मरकट इव सबहिं नचावत। राम खगेस बेद अस गावत॥'

(रामचरितमानस ४ । ६ । २४)

'प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति।'

(गीता ३ । ३३)

'प्राणी अपने स्वभावके अनुसार ही व्यवहार करते हैं। इसमें निग्रह क्या करेगा!'

एक ओर ऐसी बातें हैं, जो कम नहीं हैं। इनका समर्थन ही प्रारब्धवाद करता है। फल होगा कोई तो किसी-न-किसी क्रियाके माध्यमसे होगा। जब वह फल होना ही है, तो क्रिया भी वही होगी। किसीको लाठीसे चोट खाना है और अमुकके हाथसे खाना है तो लाठी चलानेमें वह अमुक स्वतन्त्र कहाँ है!

इसीके साथ फलित ज्योतिषको और रख लीजिये। बच्चेके उत्पन्न होते ही उसकी कुण्डली बनती है। उस कुण्डलीमें बतलाया गया है कि बच्चा धार्मिक होगा या अधार्मिक; सदाचारी होगा या कदाचारी। अब बच्चेके लिये धार्मिक जीवन व्यतीत करनेकी स्वतन्त्रता कहाँ है?

इसके विपरीत दूसरी ओरसे इस प्रश्नको देखें तो बात दूसरी ही दिखलायी पड़ती है। इतने धर्मशास्त्र और अध्यात्मशास्त्र कर्ताके लिये ही तो हैं। यदि कर्ता कर्म करनेमें समर्थ न हो तो 'यह करो और यह मत करो' इस आज्ञाका क्या अर्थ? शास्त्र तो सब विधि-निषेधसे भरे पड़े हैं। विधि-निषेधका विधान स्वतन्त्र कर्ताके लिये ही होता है।

यदि कर्ता स्वतन्त्र नहीं है और उससे कोई दूसरा बलपूर्वक शुभ या अशुभ कर्म करा लेता है तो वह पुरस्कार या दण्डका पात्र हो कैसे सकता है? शास्त्र तो मनुष्यको पाप-पुण्यका कर्ता और उनके फलका भोक्ता मानता है। इसका अर्थ ही है कि मनुष्य नवीन पाप-पुण्य-रूप कर्म करनेमें स्वतन्त्र है—

'कर्मण्येवाधिकारस्ते।' (गीता २ । ४७)

'कर्म करनेमें ही तुम्हारा अधिकार है।' भले फलमें अधिकार न हो, कर्म करनेमें तो अधिकार है ही। मनुष्ययोनि कर्मयोनि है। इसका अर्थ ही यह है कि मनुष्यको कर्म करनेमें स्वतन्त्रता प्राप्त है।

अब यहाँ प्रश्न आता है कि बात क्या है? ईश्वर सबको अपने इच्छानुसार चलाता है, सब अपनी प्रकृतिके परतन्त्र

हैं, प्रारब्धानुसार व्यक्तिका जीवन बनता है और जन्मकुण्डली प्रारब्धकी सूचक है; इन बातोंके साथ मनुष्य कर्म करनेमें स्वतन्त्र है, इस बातका क्या मेल है ? क्या समन्वय है इसका ? हमारी स्वतन्त्रताकी सीमा क्या है और कहाँ पहुँचकर हम परतन्त्र हो जाते हैं ?

इन दोनों तथ्योंमें समन्वय है और उस समन्वयको हृदयङ्गम कर लेनेपर कर्म-सिद्धान्तके सम्बन्धमें कहीं कोई शङ्का नहीं रह जाती।

नेत्रका देवता सूर्य है। सूर्यके (चन्द्रमा, विद्युत्, अग्निकी ज्योति भी घूम-फिरकर सूर्य-ज्योति ही है) प्रकाशमें, सूर्यकी शक्तिसे नेत्र रूपको देखते हैं। अतः कहना यही उचित है कि सूर्यकी प्रेरणासे ही सब कुछ देखा जाता है; किंतु सूर्य केवल नेत्रको सत्ता एवं शक्ति देनेवाला है। आप कहीं कुदृष्टि डालें अथवा स्नेहपूर्ण शुभदृष्टि, यह आपपर निर्भर है। इसमें आप स्वतन्त्र हैं। बिजलीकी शक्ति 'शक्तिभवन' (Power House) से ही आती है। वह शक्ति (Curent) न हो तो कुछ भी कार्य नहीं हो सकता। उसके बिना आप सर्वथा असमर्थ हैं। पर उस शक्तिके द्वारा आप रोशनी कर सकते हैं, पंखा चला सकते हैं, मील-मशीन चला सकते हैं, किसीका रोग नाश कर सकते हैं, स्वयं जल सकते हैं, दूसरोंको जला सकते हैं। इस सदुपयोग असदुपयोगमें आप स्वतन्त्र हैं। पर फल तो उस कर्मके अनुसार भोगना ही पड़ेगा। इसी प्रकार अन्तर्यामी परमात्मा सबके हृदयमें रहकर सबको सत्तास्फूर्ति देता है; किंतु वह निर्विशेष है। वह आपको पाप या पुण्यमें नहीं लगाता। आपको सत्ता-स्फूर्ति देना उसका कार्य है और उस सत्ता-स्फूर्तिको किधर लगाना, इसमें आप स्वतन्त्र हैं।

हमारे बहुत कम ऐसे कार्य हैं, जिनसे सृष्टिमें कोई महत्त्वपूर्ण उथल-पुथल होती है। सृष्टिका जो कर्ता, पालक, नियन्ता है, वही जानता है कि सृष्टि कैसे चलेगी। अतः सृष्टिमें जिन कार्योंसे महत्त्वपूर्ण उथल-पुथल हो सकती है, उस कार्यको करनेमें तो कोई स्वतन्त्र नहीं है। किसीमें उसे करनेकी शक्ति हो, तो भी सृष्टिका नियन्ता उसे मनमानी नहीं करने देगा। लेकिन सामान्य कार्योंमें, हमारे दैनिक शुभाशुभ कर्मोंमें हमें पूरी स्वतन्त्रता प्राप्त है। जैसे माताके सामने उसके छोटे बच्चे खेलते हैं; माता उन्हें धूल-कीचड़में भी खेलने देती है; अपने खेलमें एक बड़ी सीमातक वे स्वतन्त्र हैं; किंतु घरमें मनमानी तोड़-फोड़ और परस्पर एक-दूसरेका सिर फोड़नेमें वे स्वतन्त्र नहीं हैं; इसी प्रकार सृष्टिका सम्पूर्ण नियन्त्रण ईश्वरके हाथमें है; किंतु मनुष्यको बहुत बड़ी सीमातक शुभाशुभ कर्म करनेकी स्वतन्त्रता है। केवल सृष्टिमें बड़ी उथल-पुथल करनेमें वह स्वतन्त्र नहीं है। ऐसा कुछ होता है तो उसमें जो लगते हैं, वे उस अन्तर्यामीके लगानेसे ही लगते हैं। उस समय वे वैसा न करनेमें स्वतन्त्र नहीं होते।

अब प्रकृतिकी परतन्त्रता कहाँतक है, यह भी देख लेना चाहिये। प्रकृतिका अर्थ है—स्वभाव। यह दो प्रकारका होता है—एक जन्मजात और दूसरा अभ्यासज। स्वभाव जन्मजात हो या अभ्यासज, दोनों बदल सकते हैं; किंतु उनको बदलनेके लिये दृढ़ प्रयत्न और पर्याप्त लंबा समय चाहिये। सामान्यरूपमें कोई परिस्थिति आनेपर व्यक्ति स्वभावके अनुसार ही व्यवहार करता है।

महर्षि दुर्वासाने भी कई बार अपराध क्षमा किया; किंतु तब, जब बहुत सावधानचित्त थे। उनकी आदत क्रुद्ध होकर शाप देनेकी है। इसी प्रकार प्रत्येक व्यक्तिकी कुछ आदत होती है। उसीके अनुसार वह परिस्थिति आनेपर व्यवहार करेगा। दीर्घकालीन अभ्याससे वह आदत बनी है। दृढ़ संकल्प और दीर्घकालीन अभ्याससे वह बदल सकती है। इसलिये आदतके अनुसार ही कर्म करनेमें हम परतन्त्र हैं, ऐसा कहा नहीं जा सकता। आपकी आदत पड़ गयी है शराब पीनेकी; सिगरेट पीनेकी, तो यह आदत कैसे पड़ी ? आपने ही तो इसको बनाया। अतः आप इसे बनाने-बिगाड़नेमें स्वतन्त्र हैं। इसके अनुसार जो कर्म होता है, उसका दायित्व आपका ही है।

ऐसा भी तो नहीं है कि हम सभी काम आदतके वश ही करते हों। जीवनके बहुतसे काम हम सोच-समझकर, योजना बनाकर करते हैं। इनको करने, न करनेमें तो हम सर्वथा स्वतन्त्र होते हैं। आदतको बदलनेके प्रयत्नमें भी हम स्वतन्त्र ही हैं।

ईश्वरकी परतन्त्रता सामान्य व्यक्तिके लिये सामान्य कार्योंमें कुछ नहीं है। व्यक्ति-विशेषके लिये, बहुत अधिक साधन-शक्ति रखनेवालोंके लिये, उनके ऐसे कार्योंमें जिनसे सृष्टिमें कोई बड़ी उथल-पुथल होती हो, अवश्य ईश्वरकी परतन्त्रता है। स्वभावकी जो परतन्त्रता जीवनमें है, वह हमारे अभ्यासकी बनायी है और उसके कारण हुए किसी

कर्मके दायित्वसे हम बचते नहीं हैं। इन दोनोंकी अपेक्षा प्रारब्धकी परतन्त्रता कहीं अधिक है।

जीवनमें हम जो कुछ करते हैं, उसमें दो प्रकारके कर्म होते हैं। एक वे जो बाह्य जगत्‌में कोई स्थूल परिणाम नहीं उत्पन्न करते और दूसरे वे जो जगत्‌में स्थूल परिणाम उत्पन्न करते हैं। इनमेंसे पहली कोटिके कर्मोंका तो प्रारब्धसे कोई सम्बन्ध ही नहीं है। इन्हें करने, न करनेमें हम पूर्णतः स्वतन्त्र हैं। जैसे किसीके प्रति दुर्भावना करनेसे उसका कुछ बनता-बिगड़ता नहीं, इस प्रकारके मानसिक कर्म हमें केवल अपवित्र ही करते हैं और वे शुभ हुए तो पवित्र करते हैं।

जो कर्म स्थूल परिणाम उत्पन्न करते हैं, वे भी सदा सफल नहीं होते। जैसे कोई चोर चोरी करने गया। उसने खिड़की तोड़ी, घरमें तिजोरी तोड़ी; किंतु लोग जग गये। बिना कुछ लिये भागना पड़ा। किसीने आपको लाठी मारी; किंतु आपको लगी नहीं। यहाँ कर्ताको प्रेरणा देकर बाध्य करनेवाला कोई प्रारब्ध नहीं था। कर्ता अपनी दुर्भावनावश ही कर्ममें प्रवृत्त हुआ था। वह ऐसा न करनेमें भी स्वतन्त्र था।

स्थूल परिणाम जहाँ उत्पन्न हो गया, वहाँ भी कर्म नवीन हुआ या प्रारब्ध-प्रेरित हुआ, यह जाननेका कोई उपाय नहीं है। आपने किसीको लाठी मारी और उसका सिर फूट गया। उसका सिर तो उसके प्रारब्धसे फूटा; किंतु वह दूसरी प्रकार भी तो फूट सकता था। लाठी मारनेका काम आप करते ही, यह अनिवार्य तो नहीं था। यह आपके हाथसे ही होना था तो यह भी तो हो सकता था कि आपके अनजानमें आपके हाथकी लाठी उसके सिरपर गिर जाती; आप वृक्षपर दातौन तोड़नेको लाठी चलाते और उसे लग जाती। अतः जान-बूझकर लाठी चलाने न चलानेमें आप स्वतन्त्र थे। इसमें प्रारब्धने आपको परवश नहीं किया। इस कर्मके उत्तरदायी आप ही हैं।

मनुष्यके कर्म-स्वातन्त्र्यका विचार करते समय गीताके इन श्लोकोंपर ध्यान अवश्य दिया जाना चाहिये—

अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम्।
विविधाश्च पृथक्चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम्॥
शरीरवाङ्मनोभिर्यत् कर्म प्रारभते नरः।
न्याय्यं वा विपरीतं वा पञ्चैते तस्य हेतवः॥
तत्रैवं सति कर्तारमात्मानं केवलं तु यः।
पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः॥
(१८। १४--१६)

'१—अधिष्ठान (परमात्मा), २—कर्ता (व्यक्ति), ३—नाना प्रकारके उपकरण, ४—अनेक प्रकारकी चेष्टाएँ और इनमें ५—प्रारब्ध—ये पाँचों मिलकर उन सब कर्मोंमें कारण होते हैं, जिन्हें मनुष्य शरीरसे, वाणीसे या मनसे प्रारम्भ करता है। वे शुभ हों या अशुभ, इसमें जो केवल अपनेको ही कर्ता मानता है, वह अकृतबुद्धि (विचारहीन) होनेसे दुर्मति है। वह ठीक नहीं समझता।'

'कर्मण्येवाधिकारस्ते' (गीता २। ४७)'कर्म करनेमें मनुष्यका अधिकार है';—किंतु कहाँतक? मानसिक कर्म तथा वाणीसे बोलनेमें भी उसका अकेला कर्तृत्व नहीं है। इसमें भी पाँच-पाँच कारण हैं। इन पाँचमेंसे एक वह है।

हम जो कर्म अनजानमें करते हैं, उनका फल पाप या पुण्य हमें नहीं होता। जैसे सोते समय हाथ लगकर मच्छर मर गया या ठीक देखकर चलनेपर भी पैरसे कोई चींटी दब गयी तो इसका दोष हमें नहीं होता। इसका अर्थ है कि अहंकारपूर्वक—कर्तृत्वपूर्वक किये कर्मका ही पाप-पुण्य कर्ताको होता है। यह कर्तृत्व स्थापित करनेमें हम स्वतन्त्र हैं और यही सबसे बड़ा कर्म-स्वातन्त्र्य मनुष्यका है। यही सब अनर्थोंका हेतु भी है—

यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।
हत्वापि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते॥
(गीता १८। १७)

"'मैं कर रहा हूँ'—यह भाव कर्म करते समय जिसका नहीं रहता और कर्म हो जानेपर जिसकी बुद्धि 'मैंने किया'—इस प्रकार लिप्त होकर ऊहापोहमें नहीं पड़ती, वह इन सब लोकोंको मारकर भी न किसीको मारता, न कर्म-बन्धनमें पड़ता है।"

भगवान् रुद्र प्रलय करते हैं। सृष्टिके सब प्राणी, लाख-लाख गायें और ब्राह्मण, साधक-सिद्ध सब मरते हैं; किंतु उन प्रलयंकरको क्या कोई पाप लगता है? उन्हें कर्म-बन्धन होता है?

भगवान् सबके हृदयमें हैं और सामान्यरूपसे सबका नियन्त्रण करते हैं; किंतु जो अपनेको उनपर ही छोड़ देता

है, अपनेको सर्वथा उनके हाथका यन्त्र बना देता है, उसका पूरा संचालन फिर वही करते हैं। उसका अपना अहंकार तो चला ही गया। अतः जब वह कर्म करनेमें अपनेको स्वतन्त्र ही नहीं देखता तो उसके लिये न विधि-निषेध है और न उसे कर्म-बन्धन प्राप्त होता है। वह अपने देहसे हुए शुभाशुभ कर्मोंका उत्तरदायी नहीं रह जाता। पर ऐसी स्थितिमें अहंकार-प्रसूत-कामना आसक्ति न रहनेके कारण उससे अवैध कर्म नहीं बन सकते। लेकिन जबतक सचमुच चित्त ऐसा अहंता-ममताशून्य नहीं बन जाता, मनुष्यको सदा शुभमें ही लगनेका पूरा प्रयत्न करना चाहिये और अपनेको इसमें पूर्ण स्वतन्त्र मानकर ही परमार्थ-साधनमें भी जुट जाना चाहिये।

(२)

प्रारब्ध परिवर्तित कैसे हो सकता है ?

'अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्।'

'शुभ या अशुभ कर्म जो किया गया है, उसे अवश्य भोगना पड़ता है।' बात ठीक है; किंतु ऐसा नियम कहाँ है कि उसे इतने जन्मोंमें अथवा इतने कालमें ही भोगना पड़ता है। नियम तो यह भी नहीं है कि केवल कर्ता ही कर्मका फल भोगे। कर्ताके कर्ममें अनेक हिस्सेदार होते हैं, यह भी नियम है। प्रारब्ध कहते हैं—अनन्त संचितमेंसे लेकर कुछ कर्मोंके फलस्वरूप आयु, भोग, जाति आदिके निर्माणको। यह अवश्य ही अपरिवर्तनीय है। प्रारब्धका फल भोगना ही पड़ता है। परंतु कर्म करनेमें स्वतन्त्र मनुष्य प्रबल उग्र कर्मके द्वारा नवीन प्रारब्धका निर्माण कर सकता है, जो फलदानोन्मुख प्रारब्धके बीचमें अपना फल भुगता देता है। इस दृष्टिसे प्रारब्धमें परिवर्तन होता है, यह बात भी शास्त्रको मान्य है। कुछ ऐसे और हेतु भी होते हैं, जिनसे प्रारब्धमें परिवर्तन हो सकते हैं। केवल सिद्धान्तरूपसे ही मान्य नहीं है, इसके बहुत अधिक उदाहरण भी वहाँ हैं।

नवीन प्रारब्धका निर्माण या प्रारब्धमें परिवर्तनके हेतु ये हैं—१—व्यक्तिके द्वारा किया गया इसी जन्मका उग्र पाप या पुण्य; २—व्यक्तिद्वारा पुण्य-प्रारब्धके फलकी अस्वीकृति; ३—किसी अन्यको अपने पुण्य-प्रारब्धका (अथवा इस जन्मके पुण्य-कर्मका) दान; ४—सविधि देवाराधन अनुष्ठान; ५—कोई अन्य समर्थ पाप-ग्रहण कर ले; ६—देवता, ऋषि, मुनि या किसी अन्यका शाप या वरदान; ७—देवता, सिद्ध, पितर, प्रेतादि किसीका विशेष प्रबल हस्तक्षेप।

१—उग्र पाप या पुण्यसे भाग्य-परिवर्तन

त्रिभिर्वर्षैस्त्रिभिर्मासैस्त्रिभिः पक्षैस्त्रिभिर्दिनैः।
अत्युग्रपुण्यपापानामिहैव फलमश्नुते॥

(स्मृति)

'तीन वर्ष, तीन महीना, तीन पक्ष अथवा तीन दिनमें ही इसी जीवनमें मनुष्य अपने अत्युग्र पुण्य या पापका फल-भोग प्राप्त करता है।'

आपके द्वारा जो बहुत प्रबल पाप या पुण्य होता है, वह संचितमें न जाकर प्रारब्धमें ही सम्मिलित हो जाता है और इस प्रकार वह शीघ्र फलोन्मुख बन जाता है। अनेक बार उग्र पापका फल उनके कर्ताको इसी जन्ममें भोगते देखा गया है।

२—पुण्य-प्रारब्धके फलकी अस्वीकृति

नियम यह है कि अपराधका दण्ड अस्वीकार करनेमें कोई स्वतन्त्र नहीं है। किसीने चोरी की और पकड़ा गया; अब वह कहे—'मैं चोरीके दण्डको भोगना अस्वीकार करता हूँ' तो क्या न्यायालय उसकी बात मानेगा ? इसी प्रकार हमसे अनजानमें या जान-बूझकर जो पाप—अशुभ कर्म हुए हैं, उनका फल दुःख भोगना हम अस्वीकार नहीं कर सकते; किंतु पुरस्कार-ग्रहण करना, न करना हमारे हाथमें है। किसीको किसी कामके लिये प्रशासन पुरस्कृत करना चाहे तो जिसे पुरस्कार मिलना है, वह उस पुरस्कारको अस्वीकार कर दे सकता है; पुरस्कार-ग्रहणके लिये उसे विवश नहीं किया जा सकता। इसी प्रकार पूर्वजन्मके पुण्योंके फलस्वरूप जो सम्पत्ति, यश, सुविधादि आती है, उसका उपभोग अस्वीकार किया जा सकता है।

बहुतसे लोग त्यागका व्रत लेते हैं, त्यागका वेष बनाते हैं और फिर जब उनके पास वैभव आता है, बड़े-बड़े भवन बनते हैं, मोटरें जुटती हैं; धन एवं भोग सुलभ होते हैं तो कहते हैं—'यह सब प्रारब्धसे आया। प्रारब्धको कैसे टाला जा सकता है।'

धन-वैभव-भोग एवं ख्याति प्रारब्धसे आते हैं, यह बात ठीक है; किंतु उनका त्याग करनेमें हम सदा स्वतन्त्र हैं। हम उनका उपभोग करनेमें लग गये, यह हमारी दुर्बलता है। हमारी भोगलिप्साने यह कराया। त्यागका संकल्प और वेष लेकर भोगमें हम लगे तो पतन हुआ हमारा। प्रारब्धने हमें इसके लिये विवश नहीं किया।

यदि मनुष्य पुण्यका भोग त्यागनेमें स्वतन्त्र न हो तो त्यागका कोई अर्थ ही नहीं रह जायगा। फिर तो त्याग भी धनके चोरी हो जानेके समान एक प्रारब्ध-प्रेरित क्रिया बन जायगा। जिन नरेशोंने—चक्रवर्ती नरेशोंतकने—धन-राज्य त्यागकर वनमें गमन किया, क्या प्रारब्धमें उनके पास धन, राज्य, वैभव नहीं था ?

त्याग, तपस्या, दान आदिकी महिमा ही इसीलिये है कि इनमें प्रारब्धसे सुख-सुविधा-सम्पत्ति प्राप्त है और स्वेच्छासे उसे त्यागकर कष्ट, असुविधा, निर्धनताको स्वीकार किया जाता है। मनुष्यका कर्म-स्वातन्त्र्य ही यह है कि वह प्रारब्धके पुण्य-फलोंको अस्वीकार करके दान-धर्म, तप-त्याग, साधन-भजन करनेमें स्वतन्त्र है।

३–किसी अन्यको अपने पुण्य-प्रारब्ध अथवा इस जन्मके पुण्यका दान

एक किसान खेती करता है। उसके खेतमें अन्न होता है। यह अन्न उसके कर्मका फल है। एक व्यापारी व्यापार करता है और धन कमाता है। यह धन उसके कर्मका फल है। अधिक-से-अधिक आप यह कह सकते हैं कि अन्न या धन उसके पूर्वजन्मके कर्मका—प्रारब्धका फल है। इस जन्मके कर्मका फल हो या पूर्वजन्मके कर्मका फल हो, है कर्मका ही फल। पर किसान अपने अन्नको अथवा व्यापारी अपने धनको बिना किसी दुरभिसन्धिके किसीको देता है तो कोई अपराध है ? कोई उसे रोकनेवाला है ? कोई दण्ड है उसके लिये ?

जैसे कर्मका फल अन्न या धन दिया जा सकता है, वैसे ही कर्म भी दिया जा सकता है। एक व्यक्ति आपके किसी उद्योगमें बिना कुछ पारिश्रमिक लिये कुछ समय काम कर दे तो उसने अपना कर्म दिया या नहीं ? उसके कर्मका फल आपको ही तो मिला। 'श्रम-दान' शब्द 'कर्मदान'का ही तो नाम है।

जब कर्मदान किया जा सकता है, तब इस जन्मका ही कर्मदान किया जा सके, ऐसा कोई नियम नहीं है। पूर्वजन्मका जो कर्म है, उसमेंसे भी दान किया जा सकता है। एक व्यक्तिने आपको धन दिया। यह धन अब उसके बैंकके खातेमेंसे निकल गया और आपके बैंकके खातेमें जमा हो गया। अब इसका फल आपको मिलता है।

व्यक्ति अपने इस जन्मके पुण्य दान कर सकता है और प्रारब्धके पुण्योंका दान कर सकता है। इतना तो सरलतासे हो जाता है। अपने संचितके पुण्योंका भी दान किया जा सकता है; किंतु उसके लिये प्रबलतम संकल्प आवश्यक होता है; क्योंकि संचित फलदानोन्मुख कर्म नहीं हैं। उनकी स्थिति वह है, जो बैंकमें 'फिक्स डिपॉजिट' की होती है। अवधिसे पूर्व उसको उपयोगमें लेनेके लिये विशेष कुछ करना पड़ता है।

कर्म-संस्कार क्या है ? यह एक प्रकारके सिक्के हैं, जो स्वतः समयपर भुन जाते हैं। नोट या सिक्का क्या है ? यह श्रमका एक प्रतीक है। मजदूरने दिनभर श्रम किया और उसे कुछ सिक्के मिले। इन सिक्कोंके द्वारा वह कालान्तरमें चाहे जब अपने उपभोगकी वस्तुएँ बाजारसे ले सकता है। इसी प्रकार कर्मोंके संस्कार एक प्रकारके ऐसे सिक्के हैं, जो अदृश्य हैं और समयपर अपना फल वे स्वयं उपस्थित कर देते हैं। जैसे अपनेद्वारा उपार्जित सिक्के आप किसीको दान कर देनेमें स्वतन्त्र हैं, वैसे ही पुण्यका दान करनेमें भी आप स्वतन्त्र हैं।

पुण्यदान ही नहीं, आयुदान तक किया जा सकता है; क्योंकि प्रारब्ध कर्मोंके संस्कारसे ही आयु भी हमें प्राप्त हुई है। लेकिन यह दान स्थूल वस्तुका दान नहीं है; अतः स्थूल वस्तुके समान हाथसे उठाकर तो दिया नहीं जा सकता। यह तो सूक्ष्म संस्कारका दान है, और संस्कार होते हैं—चित्तमें; अतः ठीक संकल्पके द्वारा ही इनका दान किया जा सकता है। यह आवश्यक नहीं है कि पुस्तकमें लिखा संकल्प पढ़ा ही जाय; वैसे वह पढ़ा जाय हाथमें जल-अक्षत लेकर तो अधिक उत्तम है। उससे मनका संकल्प सच्चा और पुष्ट बनता है। पर उसको पढ़े बिना भी संकल्प किया जा सकता है। दृढ़संकल्प व्यक्ति 'दे दिया' कहकर भी दे सकता है। इस प्रकार पुण्यदानकी घटनाओंका वर्णन पुराणोंमें बहुत है। लेकिन जैसे रुपया आप बैंकका चेक काटकर दे देते हैं तो आपके मनमें यह नहीं आता कि वह अब आपके पास है, भले तबतक चेक भुनाया न गया हो; उसी प्रकार 'दे दिया' का संकल्प करनेपर आपके मनमें नहीं आना चाहिये कि आपके पास अमुक पुण्य है। यदि पुण्यका अभिमान रहता है तो आपका संकल्प झूठा है। जैसे जाली चेक किसीको दिया गया तो उसे कोई

धन नहीं मिलता, वैसे ही झूठे संकल्पसे किसीको कोई लाभ नहीं होता।

दान या उपहारमें मिला चेक जैसे पानेवालेके खातेमें जमा हो जाता है, वैसे ही पुण्यदान या आयुदान प्राप्त होनेपर प्राप्त करनेवालेके प्रारब्धमें वह पुण्य या आयु सम्मिलित होकर तत्काल फलदानोन्मुख हो जाती है।

४–सविधि अनुष्ठान

प्रारब्ध भी हमारे ही कर्मोंका निर्माण है। अतः हमारे वर्तमान कर्म इसे प्रभावित नहीं करेंगे, ऐसी कोई बात नहीं है। सामान्य नियम यद्यपि यह है कि वर्तमान कर्म (क्रियमाण कर्म) संचितमें सम्मिलित होकर आगे किसी जन्ममें फल देते हैं; किंतु विशेष नियम यह भी है कि विशेष संकल्प लेकर जब कोई विशेष अनुष्ठान विधिपूर्वक करता है तो उस अनुष्ठानका कर्म-संस्कार प्रारब्धमें सम्मिलित होकर तत्काल अपना फल देता है।

शास्त्रोंमें विभिन्न कामनाओंकी पूर्तिके लिये विभिन्न जप-तप, देवाराधन एवं यज्ञादिके विधान हैं। अमुक कष्ट दूर करनेको अमुक दान-जपादि किया जाना चाहिये, ऐसा वर्णन है। यदि प्रारब्धमें परिवर्तन सम्भव ही न होता तो इन सकाम अनुष्ठानोंका विधान ही क्यों होता?

फलित ज्योतिषका कोई उपयोग ही न हो और न कर्मविपाक शास्त्रका कोई अर्थ हो, यदि प्रारब्धके फलमें परिवर्तन न किया जा सकता हो। जो कुछ होना है, यदि वह अवश्य ही होना है; उसे मिटाया या घटाया नहीं जा सकता तो उसका पूर्वज्ञान प्राप्त करनेसे लाभ? लेकिन बात ऐसी नहीं है। ज्योतिष-शास्त्रमें ग्रह-शान्तिसे और कर्मविपाक-शास्त्रमें जप-व्रत-दानादिसे पूर्वकृत अशुभ कर्मोंके फलसे बचनेकी बात मानी गयी है। यदि अनुष्ठान सविधि पूरा होता है तो उसका परिणाम अवश्य प्राप्त होता है।

महामृत्युञ्जय मन्त्रके सविधि अनुष्ठानसे भयंकरतम रोग मिटते देखे गये हैं और ज्योतिषियोंके द्वारा बतलायी गयी निश्चित मृत्यु भी टली है। ऐसे सब अवसरोंको संयोग कहकर टाला नहीं जा सकता। ध्यान रखनेकी बात यह है कि जो शास्त्र प्रारब्धका भोग अनिवार्य बतलाता है, वही उसमें परिवर्तनकी विधिका भी वर्णन करता है।

किसी भी अनुष्ठान-उपासना आदिसे प्रारब्ध परिवर्तित होता है। सकाम कर्म (उपासना) से कामना पूरी होती है तो उसमें जो विशेष बातें होती हैं, वे बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। १—केवल वह कामना—वह संकल्प पूरा होता है, जिसकी पूर्तिके लिये अनुष्ठान—उपासना की गयी। दूसरा कुछ नहीं होता। २—उस कामनाकी पूर्तिसे जिस सुखकी आशा की गयी थी, वह प्रायः नहीं होता। राजा अङ्गको यज्ञसे पुत्र तो हुआ, पर हुआ बेन-जैसा कुपुत्र। किसीको राज्य मिला—पर बुढ़ापेमें, और उसका वंश नष्ट हो गया।

५—कोई समर्थ पाप-ग्रहण कर लें

जैसे आप किसीको अपना धन दे सकते हैं, वैसे ही किसीके ऋणको भी स्वीकार कर ले सकते हैं; किंतु धन देने-जैसा सीधा काम ऋण स्वीकार करना नहीं है। धन तो आपके पास है, उसे आपने दे दिया। ऋण आप स्वीकार करें, इसके लिये आवश्यक है कि ऋण-दाता भी स्वीकार करे और प्रशासन भी स्वीकार करे, इसके योग्य सम्पत्ति एवं विश्वासभाजनता आपमें होनी चाहिये।

जैसे किसीको पुण्यदान कोई कर सकता है, ऐसे ही किसीका पाप स्वीकार करनेकी योग्यता सबमें नहीं होती। पापका भोग कर लेना आप स्वीकार करें, इतना ही पर्याप्त नहीं है, कर्म-नियन्ता भी इसे स्वीकृति दे, यह आवश्यक है। अतः समर्थ पुरुष ही दूसरेका पाप स्वीकार कर सकते हैं।

जब किसीका ऋण देना दूसरेने स्वीकार कर लिया तो पहला ऋणमुक्त हो गया। यदि किसी अपराधीको मिला दण्ड आपने भोगना स्वीकार किया और प्रशासन-पर आपका इतना दबाव है कि वह इसे मान ले तो अपराधी दण्डसे बच गया। प्रायः ऐसी अवस्थामें पाप स्वीकार करनेवालेको पूरा दण्ड नहीं भोगना पड़ता; क्योंकि उसने जो उदारता दिखलायी, दया की, यह पुण्य भी तो बना। अतः उसे अत्यल्प भोग ही प्राप्त होता है।

प्रारब्ध कैसे बदलता है

किसीने अपना पुण्य दिया या पाप स्वीकार कर लिया अथवा सकाम अनुष्ठान किया गया, इससे प्रारब्धमें कैसे परिवर्तन होता है?

परिवर्तन चार प्रकारसे होता है—१–नवीन प्रबल कर्म-संस्कार (प्रारब्ध) बनाकर। २–प्रारब्धके किसी फलोन्मुख संस्कारके संचितमें डालकर। ३–संचितसे किसी कर्म-संस्कारको बलात् प्रारब्धमें ले आकर। ४–प्रारब्धके संस्कारको अन्यत्र ले जाकर।

१—किसीके पुत्र नहीं है या किसीके पास धन नहीं है। इसका अर्थ है कि उसके प्रारब्धमें इन्हें देनेवाले कर्म-संस्कार नहीं हैं। सकाम अनुष्ठानसे अथवा किसीके पुण्यदानसे ऐसा नवीन प्रारब्ध बन जा सकता है जो पुत्र या धन दे।

२—किसीको कोई गम्भीर रोग है। इसका अर्थ है कि उसके प्रारब्धमें उस रोगको देनेवाले संस्कार विद्यमान हैं। अब कोई समर्थ यदि पाप ग्रहण कर लेता है तो प्रारब्धसे वह संस्कार उस पाप लेनेवालेके प्रारब्धमें चला जायगा।

३—ऐसा भी हो सकता है कि कोई समर्थ सिद्ध पुरुष कर्मनियन्ताको विवश कर दें कि वह रोग इस समय न हो। वह कभी दूसरे समय या अगले किसी जन्ममें उस जीवको हो। ऐसी अवस्थामें कर्मनियन्ता उस संस्कारको प्रारब्धसे हटाकर संचितमें डाल देगा। अनेक बार सकाम अनुष्ठानसे भी यही क्रिया होती है।

४—कोई शुभ फलप्रद नवीन प्रारब्ध नहीं बना। किसी अनुष्ठानसे या किसी समर्थकी प्रेरणासे जो संस्कार प्रारब्धमें नहीं था, वह संचितसे लाकर प्रारब्धमें कर्म-नियन्ताने मिला दिया। इससे वह नवीन संस्कार फल-दानोन्मुख हो गया।

६—शाप या वरदानसे

देवता, ऋषि-मुनि, तपस्वी, सिद्ध भक्त, सती, सिद्ध योगी शाप या वरदान देनेमें समर्थ होते हैं। इनके अतिरिक्त सामान्य व्यक्ति भी जब बहुत उत्पीडित होकर अत्यन्त दुखी हृदयसे शाप देता है, अथवा कोई दुखी, असहाय किसी सेवा-सहायतासे संतुष्ट होकर हृदयसे आशीर्वाद देता है, तो उसका शाप अथवा आशीर्वाद भी कभी-कभी सफल हो जाता है।

किसीको भी शाप या वरदान देनेमें, शाप या वरदान देनेवालेका पुण्य क्षय होता है। उसके जप-तपका फल क्षीण होता है, यह बात शास्त्रोंमें स्पष्ट आयी है। शाप या वरदानसे प्रारब्धमें परिवर्तन दोनों प्रकारसे होना सम्भव है—नवीन प्रारब्ध बनकर अथवा प्रारब्धके किसी फलो-न्मुख कर्मको संचितमें ले जाकर और संचितके कर्मको प्रारब्धमें लाकर।

मान लीजिये कि कोई किसीको वरदान देता है। वरदान देनेवालेके पुण्यको लेकर वरदान पानेवालेका नवीन प्रारब्ध बन सकता है और उसे उसका शुभ फल प्राप्त हो सकता है। इसके विपरीत जब कोई किसीको शाप देता है, तो जिसे शाप दिया गया है, उसके शुभ सुखोन्मुख कर्म-संस्कारको संचितमें ले जाकर और संचितसे अशुभ फल देनेवाले संस्कार प्रारब्धमें लाकर ही उसे शापका अशुभ फल दिया जा सकता है। ऐसा हो तो जाता है; किंतु शाप देनेवालेका तप एवं पुण्य इससे नष्ट होता है।

७—देवता, सिद्ध, पितर, प्रेतादि किसीके विशेष प्रबल हस्तक्षेपसे

देवता, सिद्धजन, पितर, यक्ष, भूत-प्रेतादिमें विशेष शक्ति होती है। इनमें भी शक्तिका तारतम्य होता है। किन्हींमें कम तो किन्हींमें विशेष प्रबल शक्ति होती है। अतः यह बात तो नहीं है कि ये किसीके भी प्रारब्धमें हस्तक्षेप करके उसे दुःख या सुख दे सकते हैं; किंतु अपनेसे दुर्बलके प्रारब्धको भी ये प्रभावित कर सकते हैं। यहाँ दुर्बलता या सबलता मानसिक ही माननी चाहिये; क्योंकि ये सूक्ष्मशरीरको प्रभावित करके ही स्थूलशरीरपर प्रभाव डाल सकते हैं।

इनमें भी किन्हीं-किन्हींमें यह शक्ति होती है कि किसीके प्रारब्धके कर्मको रोककर संचितमें पहुँचा दें और उसके संचित कर्मको प्रारब्धमें ले आकर उसे फलदानोन्मुख कर दें। जो काम कोई तपस्वी या योगी मनका नियन्त्रण करके कर सकता है, उसे एक सीमातक ये सूक्ष्मशरीरधारी शक्तिमान् लोग भी कर सकते हैं।

यदि ऐसा मानें कि देवता, सिद्ध, पितर या प्रेत केवल प्रारब्धभोगके ही निमित्त होते हैं; इनमें प्रारब्धको प्रभावित करनेकी क्षमता नहीं है तो फिर इनकी आराधना-उपासनाके विधान व्यर्थ हो जायँगे। जो प्रसन्न होकर कुछ दे नहीं सकता और अप्रसन्न होकर कुछ बिगाड़ नहीं सकता, उसकी सेवा-पूजा तो व्यर्थ है! किंतु शास्त्रमें इन सबकी पूजाका विधान है और माना गया है कि ये इष्ट या अनिष्ट करनेमें समर्थ हैं।

परिवर्तनकी सीमा है

प्रारब्धमें परिवर्तन कहाँतक, कितना हो सकता है, इसको कोई निश्चित नहीं कर सकता। यह तो इसपर

निर्भर है कि प्रारब्धके वे संस्कार, जिन्हें परिवर्तित करना है, कितने बलवान् हैं और परिवर्तन करनेवाली शक्तिमें नवीन कर्ममें क्षमता कितनी है।

अनेक बार सकाम अनुष्ठान असफल होते हैं; क्योंकि प्रारब्धका प्रतिबन्धक अनुष्ठानकी शक्तिसे बलवान् होता है। अनेक बार बड़े-बड़े लोगोंके शाप भी व्यर्थ हुए; क्योंकि जिसे शाप दिया गया, उसकी क्षमता बहुत अधिक थी। कोई पत्थर फेंका जा सकेगा या नहीं और कितनी दूर फेंका जा सकेगा, यह फेंकनेवालेकी शक्तिपर निर्भर है। कोई मूर्ति बनेगी या नहीं, यह बनानेवालेकी योग्यता और औजार तथा जिसकी मूर्ति बननी है, उस धातुपर निर्भर है। इसी प्रकार प्रारब्धमें परिवर्तनका होना-न-होना, कम या अधिक होना परिवर्तन करनेवालेकी शक्ति तथा प्रारब्धके संस्कारकी शक्तिपर निर्भर है। —सु०

संस्कृत-साहित्यमें परलोक तथा पुनर्जन्मके सिद्धान्त

(लेखक—श्रीरामप्यारेजी मिश्र, एम्० ए० (संस्कृत तथा हिंदी), व्या०-शास्त्राचार्य, साहित्यरत्न)

(१)

भारतीय जीवनक्रम, उसकी वास्तविक परम्परा तथा सांस्कृतिक सम्पत्तिका यथार्थ चित्र संस्कृत-साहित्यमें ही उपलब्ध होता है। परब्रह्म परमात्मा, जीवात्मा, इहलोक-परलोक, जन्म-व्याधि-जरा-मृत्यु तथा अनेक विपत्तियोंके विषम विषमय आगार संसार, उससे मुक्तिके भक्ति, ज्ञान, कर्म, उपासनादि विविध मार्ग, सृष्टि-रक्षा-संहारके देवता ब्रह्मा, विष्णु, शिव, उनकी शक्तियोंके अतिरिक्त सूर्य, गणेश, इन्द्र, वरुण, यम, कुबेर, अग्नि प्रभृति देवोंके स्वरूप, स्वभाव, गुण, धर्म तथा मानवोंसे उनके सम्बन्धोंका जितना भव्य एवं बुद्धिविवेकसम्मत वर्णन संस्कृत-साहित्यमें है, उतना अन्यत्र कहीं नहीं। शरीर-जीवात्माके सम्बन्ध, स्थूल, सूक्ष्म, कारण शरीर, पुनर्जन्म, सदसत् पाप-पुण्य शुभाशुभ कर्मोंके परिणामस्वरूप स्वर्ग, नरक या सप्त (भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः तथा सत्य) ऊर्ध्वलोक और क्रमशः नीचेकी ओर अतल, वितल, सुतल तलातल, महातल, रसातल, एवं पाताल आदिमें कर्मानुसार मनुष्य, देव, तिर्यगादि योनियोंमें जन्म लेकर बार-बार मृत्युकी असह्य वेदना प्राप्त करनेके विचार स्पष्टतः या रूपकों अथवा अलंकारोंके रूपमें अत्यन्त मार्मिक ढंगसे विस्मयजनक तप, महान् श्रमसे मनोहारिणी शैलीमें व्यक्त हैं। वेद, उपनिषद्-पुराणोंके अतिरिक्त सहस्र-सहस्र काव्य, नाटक, उपाख्यान, कथा एवं संस्कृत स्तोत्र-साहित्यमें अविच्छिन्न रूपमें जीवात्माके शरीर-त्यागके पश्चात् पुनर्जन्म प्राप्त करनेकी भावना व्यापक दृष्टिकोणसे अभिव्यक्त है।

इस देशकी जीवनशैली ही कुछ इस प्रकार है—'एक सम्पूर्ण शक्तिसम्पन्न अव्यक्त, अनिर्वचनीय सत्ता ब्रह्मकी अभिव्यक्ति इस जगत्का देही तो अच्छेद्य, अदाह्य, अशोष्य एवं अनश्वर है। शरीरका नाश ध्रुव है। जन्म, व्याधि, जरा, मृत्युकी कर्मानुसार प्राप्ति भी तबतक होती रहती है, जबतक जीव ब्रह्मको नहीं प्राप्त कर लेता। भक्ति, ज्ञान या योग किसी भी प्रकार परमतत्त्वसे तादात्म्य पाकर मुक्ति या मोक्ष नहीं प्राप्त करता, तबतक बार-बार अधः या ऊर्ध्व लोकोंमें जन्म लेना ही पड़ता है। माता, पिता, गुरु, ऋषि तथा देवोंके पूजन, अग्नि, अतिथि एवं संत-सेवासे क्रमशः बाह्य एवं आन्तरिक आचारोंसे शुद्ध पावन व्यक्ति देवमार्गसे उत्तम लोक प्राप्त करते हैं। राजसी प्रकृतिके लोग पुनर्जन्म प्राप्तकर इसी पृथ्वीलोकमें सुख भोग करते हैं। स्वर्गादि तीन लोक ब्रह्माकी आयुके मात्र एक दिन तकका ही भोग-सुख प्रदान करते हैं। अन्य जन, तपः महः लोक भी ब्रह्माकी आयुके सौ वर्षोंतककी अवधितकके ही हैं, अतः पुनरावर्ती हैं। शुभकर्मोंसे इहलोक, परलोक दोनों बनते हैं।' इसी भारतीय जीवन-शैलीकी अभिव्यक्ति संस्कृत-साहित्यमें है, जो इतनी उदात्त एवं मानव-हितकारिणी है कि उसे ही विश्व-संस्कृति बननेका गौरव प्राप्त है। चराचरव्याप्त शुभ-संकल्पोंका एक उदार उत्स-सा संस्कृत-साहित्य शाश्वत सुख, सकलजन आह्लादकी जिन अनेक धारणाओंकी शिक्षा देता है, उनमें प्रायः सभीका प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष सम्बन्ध परलोक एवं पुनर्जन्मसे है। त्याग, तप, तपोवन, धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष अथवा वर्णाश्रम-व्यवस्था, परोपकार, श्राद्ध, श्रद्धा-प्रेम-भक्ति, देवार्चन, सदाचार, सद्विचार, व्रत, यज्ञ, याग, गोसेवा तथा तीर्थाटन—सभी भारतीय आचारों एवं विचारमय शुभ कृत्योंकी सार्थकता परलोक एवं पुनर्जन्मके सर्वजनसुखद सिद्धान्तको स्वीकार करनेमें ही है। वेद, उपनिषद्, पुराण, स्मृति तथा शास्त्रोंकी एक महती परम्पराने अनन्तकालकी तपःपूत साधनासे भारतीय संस्कृतिको उत्पन्नकर आगे बढ़ाया है। भौतिक,

शारीरिक सुखमात्रकी प्राप्तिको साधारण वस्तु मानकर—शाश्वत शान्ति-सुख-प्राप्तिके क्रममें यहाँके कवियों (ऋषियों) ने सृष्टिक्रम-वर्णनसे सूक्ष्मतत्त्व-विवेचनके जिस ज्ञानराशिको हमें प्रदान किया है, उसमें पदे-पदे परलोक एवं पुनर्जन्मकी घटनाएँ भी यथार्थरूपमें चित्रित हैं।

ज्ञानके आदिस्रोत ऋग्वेदमें अनश्वर आत्मा, नश्वर शरीर, अनेक जन्मान्तरोंका वर्णन प्रथम एवं दशम मण्डलमें है। प्रथम मण्डलके १६४। २० में—एक वृक्ष (शरीर) पर जीवात्मा-परमात्मा (दो पक्षियों) के निवास करने, उनमें एक जीवात्माके भोक्ता तथा परमात्माके द्रष्टा होनेकी चर्चा है। दशम मण्डलके सूक्त १६वेंमें जिसके देवता अग्नि, ऋषि यम हैं, यह प्रार्थना है कि—'हे अग्निदेवता! मृतको सर्वांशतः भस्म न करना, इसे क्लेश न देना, इसके शरीरको छिन्न-भिन्न न करना। जिस समय तुम्हारी ज्वालामें इसका शरीर भलीभाँति दग्ध होता है, उसी समय इसे पितरोंके पास भेज देना।' 'जब यह पुनः शरीर प्राप्त करेगा, तब देवोंके वशमें होगा।' मृत व्यक्तिके सम्बन्धमें कहा गया है कि—'मृत व्यक्ति! तुम्हारा शरीर जब मृत हो जाय, तब नेत्र सूर्यके पास जायँ, श्वास वायुमें। तुम अपने पुण्य-फलसे आकाश और पृथ्वीपर जाओ। यदि जलमें जाना चाहो तो वहाँ ही जाओ। तुम्हारे शरीर वनस्पतियोंमें रहें।' मण्डल १० सूक्त १८ में जिसके देवता मृत्यु, ऋषि यमपुत्र संकुसुक हैं—उल्लेख है कि 'हे मृत्युदेव! तुम उस मार्ग (पितृयान) से जाओ, जो देवयान-मार्गसे दूसरा है। मृत व्यक्तिके सम्बन्धियो! पितृयान (मृत्युमार्ग) को छोड़ो। इससे दीर्घजीवन प्राप्त होगा। यज्ञानुष्ठाता यजमानो! तुम पुत्र, पौत्र, गौ आदिसे युक्त होकर, इस जन्म और पूर्वजन्मके पापोंसे शून्य होकर पवित्र बनो।' दशम मण्डलके ही सूक्त १७७में जीवके आसुरी मायामें आक्रान्त होने तथा जीवात्माकी आलोकमय धाम जानेकी इच्छाका वर्णन है। इसी क्रममें यह भी कहा गया है कि 'गर्भावस्थामें गन्धर्व (देवता) बीज रूपमें वाणी पतंग (जीवात्मा) को देते हैं। वाणीकी शक्ति असीम है। बुद्धिमान् उसे मिथ्याकी ओर नहीं ले जाते। यह वाणी दिव्य स्वर्गसुख देनेवाली और बुद्धिकी अधीश्वरी है।' कठोपनिषद् अ० २ वल्ली ३ मन्त्र ४ में इस बातको स्वीकार किया गया है कि 'यदि इस देहमें इसके पतनसे पूर्व ही ब्रह्मको (जान सका तो बन्धनसे मुक्त हो जाता है और यदि) नहीं जान पाया तो इन जन्म-मरणशील लोकोंमें वह शरीरभावको प्राप्त होनेमें समर्थ होता है'—

इह चेदशकद्बोद्धुं प्राक्शरीरस्य विस्रसः।
ततः सर्गेषु लोकेषु शरीरत्वाय कल्पते॥

यद्यपि समस्त संस्कृत-साहित्यमें इहलोक तथा परलोककी चर्चा वस्त्रमें ताने-बानेकी भाँति व्याप्त है; किंतु उनमें महाकवि वाल्मीकि, व्यास, माघ तथा बाणभट्टने अपने काव्योंमें परलोक तथा पुनर्जन्मके सम्बन्धमें जो विचार व्यक्त किये हैं, उनका संक्षिप्त स्वरूप भी अत्यन्त उपादेय होनेके कारण दिया जा रहा है। इन सभी सूक्ष्मदर्शी कवियोंके समान विचार हैं कि 'मनुष्यको देहान्तरमें किये गये पुण्य-पापका भी फल भोगना पड़ता है।' सर्वप्रथम वाल्मीकि महर्षिके भाव इस प्रकार हैं—

कीदृशं तु महापापं मया देहान्तरे कृतम्।
येनेदं प्राप्यते घोरं महादुःखं सुदारुणम्॥

(वा० रा०, सुन्दर० २५। १८)

रामसे वियुक्ता सीता अशोकवाटिका लंकामें निवासकी अवस्थामें राक्षसियोंसे त्रस्त होकर कहती हैं—'मैंने पूर्वजन्ममें क्या महापाप किया है, जिससे मुझे इस प्रकारका दारुण दुःख भोगना पड़ रहा है।' स्पष्ट है, महर्षि वाल्मीकि देहान्तर तथा उसके पाप-पुण्य एवं फलोंपर विश्वास करते थे। इस सम्बन्धमें महर्षि व्यासके 'गीता'के सिद्धान्त लोकविश्रुत हैं, जिन्हें भगवान् श्रीकृष्णने स्पष्ट ही अर्जुनसे कहा था—

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन।
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परंतप॥

(गीता ४। ५)

'हे अर्जुन! मेरे तथा तुम्हारे बहुत-से जन्म हो चुके हैं। मैंने कब-कब और कौन-कौन अवतार धारण किये थे, मुझे यह सब अच्छी तरह स्मरण है; किंतु तुम्हें उन जन्मोंका स्मरण ही नहीं है।' शरीरान्तर-प्राप्तिके लिये वस्त्रान्तर-धारणकी भगवान्‌की उक्ति तो सर्वत्र प्रसिद्ध है—

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा-
न्यन्यानि संयाति नवानि देही॥

(गीता २। २२)

श्रीमद्भागवतमें स्वयं नारदजीने अपने पूर्वजन्मका वृत्तान्त बताया था—

अहं पुरातीतभवेऽभवं मुने
दास्यास्तु कस्याश्चन वेदवादिनाम्।
निरूपितो बालक एव योगिनां
शुश्रूषणे प्रावृषि निर्विविक्षताम्॥
(श्रीमद्भा० १।५।२३)

'मैं अपने पिछले जन्ममें किसी वेदवादिनी दासीका पुत्र था। मुझे बाल्यावस्थामें ही योगियोंकी सेवामें नियुक्त किया गया था।' इसी क्रममें नारदजीने भक्तिके सम्बन्धके अपने प्राक्तन-संस्कारको भी स्वीकार किया है।

संस्कृत-साहित्यके तत्त्वदर्शी दार्शनिक मर्मज्ञ महाकवि एवं मनीषी विख्यात लोकज्ञाता माघकविने हिरण्यकशिपु-को ही रावण तथा जन्मान्तरमें शिशुपाल मानते हुए, अत्यन्त दृढ़तासे इस विचारको व्यक्त किया है कि 'जिस प्रकार सती स्त्री जन्मान्तरमें भी अपने पूर्व पतिको ही अपने पतिव्रता-धर्मसे प्राप्त करती है, उसी प्रकार पुरुषोंकी प्रकृति भी जन्मान्तरमें भी पूर्ववत् रहती है। इसीलिये तो शिशुपालमें भी हिरण्यकशिपु एवं रावणकी ही भाँति बलका दर्प तथा जगत्को जीतनेकी अभिलाषा भी थी'—

बलावलेपादधुनापि पूर्ववत्
प्रबाध्यते तेन जगज्जिगीषुणा।
सतीव योषित् प्रकृतिः सुनिश्चला
पुमांसमभ्येति भवान्तरेष्वपि॥
(शिशुपालवध १।७२)

पुनर्जन्म एवं पूर्वजन्मकी प्रकृतिका भी जन्मान्तरमें मिलना शिशुपालका उदाहरण देकर जिस प्रकार माघने सिद्ध कर दिया है, वैसा कदाचित् ही अन्यत्र मिल सके। इस क्रमके ज्ञानके लिये अवश्य ही शिशुपालवधका प्रथम सर्ग पठनीय है।

संस्कृत-साहित्यके कथा-साहित्यमें कादम्बरीका अप्रतिम सम्मान है। बाणभट्टने अपनी अलौकिक प्रतिभासे कादम्बरीकी कथा भवचक्रकी व्याख्याके रूपमें कल्पितकर इसके मुख्य पात्रोंके तीन-तीन जन्मोंकी कथाओं—घटनाओंको एकत्र स्थापितकर पाठकोंको विस्मयविमुग्ध कर लिया है। इस सम्बन्धमें बाणके विचार बड़े सूक्ष्म थे—'मर्त्यलोकका साधारण प्राणीमात्र वर्तमान स्थूलको ही देखता है। (इसीलिये वैशम्पायन तोतेद्वारा कथाकी भूमिका केवल वहीं-तकका चित्र उद्घाटित करती है।) उसकी दृष्टि उससे आगे और पीछे कुछ नहीं देखती। जाबालि-जैसे ऋषि भूत, भविष्य, वर्तमान—सब हस्तामलकवत् देखते थे।' पूर्वजन्मका वृत्तान्त जाननेके लिये ऋषि-दृष्टिकी अपेक्षा होती है। महाकवि कालिदासने इसी दृष्टिको 'निष्प्रतिघचक्षु' माना है। यह दृष्टि वसिष्ठको प्राप्त थी।

पुरुषस्य पदेष्वजन्मनः
समतीतं च भवच्च भावि च।
स हि निष्प्रतिघेन चक्षुषा
त्रितयं ज्ञानमयेन पश्यति॥
(रघु० ८।७८)

'वसिष्ठ मुनि अपने ज्ञानके नेत्रोंसे तीनों लोकोंकी बीती हुई, वर्तमान तथा होनेवाली सभी बातोंको जानते थे।' कादम्बरीमें जन्मान्तरके सिद्धान्तको अत्यन्त ललित एवं सर्वजनसुलभ बना दिया है। इस जन्ममें जिसे पाठक शूद्रकके रूपमें देखते हैं, वही पूर्वजन्ममें चन्द्रापीड़ था और चन्द्रापीड़के रूपमें भी शापवश चन्द्रमाने अवतार लिया था। इस जन्ममें वैशम्पायन तोतेके रूपमें जिसे देखा जाता है, वही उससे पूर्वजन्ममें उज्जयिनीके मन्त्री शुकनाश-का पुत्र वैशम्पायन (चन्द्रापीड़का अभिन्न मित्र) था। इसे महाश्वेताके शापसे शुक-योनिमें जन्म लेना पड़ा था। वैशम्पायन ही पूर्वजन्ममें पुण्डरीक (ऋषिकुमार—जिसके लिये महाश्वेता अनुरागवती हुई थी) था। विश्व-साहित्य-में पुनर्जन्मके सिद्धान्तको जो प्रतिष्ठा बाणसे प्राप्त हुई है, उससे चार्वाक तथा लोकायतोंके **'ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्। भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः।'** के सिद्धान्तपर सर्वाधिक प्रहार-सा हो गया। यद्यपि सभी कवियोंने प्रत्यक्ष या परोक्षमें जन्मान्तरका वर्णन किया है, किंतु बाणकी लेखनीका मन्त्रवत् प्रभाव लोकजीवनपर पड़ा।

महाकवि कालिदासने तो देवलोक एवं मानवलोकको **'परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ॥'** के धरातलपर उतार दिया था। राजा दशरथ, रघु तथा दुष्यन्त—सभी इन्द्रके सहायक हैं। दशरथ तथा दुष्यन्तने तो देवलोककी यात्रा भी की थी। प्रतिष्ठानपुरका राजा पुरूरवा स्वर्गलोककी उर्वशीसे प्रेम करता था। नारदने पुरूरवासे कहा था कि सूर्य, अग्निकी भाँति इन्द्र तुम्हारी सहायता करे, तुम देवराज इन्द्रकी'—

त्वत्कार्यं वासवः कुर्यात्त्वं च तस्येष्टकार्यकृत्।
सूर्यः संवर्द्धत्यग्निमग्निः सूर्यं स्वतेजसा॥
(विक्र० ५।४५)

कालिदासकी धारणा थी—पूर्वजन्ममें जो विद्याएँ पढ़ी रहती हैं, अगले जन्ममें भी उसी प्रकार शीघ्र आ जाती हैं, जैसे बालक अपने पूर्वजोंकी प्रकृतिको प्राप्त कर लेता है। इसीलिये राजा सुदर्शनको बाल्यावस्थामें ही सभी विद्याएँ सुलभ हो गयी थीं—

स पूर्वजन्मान्तरदृष्टपाराः
स्मरन्निवाक्लेशकरो गुरूणाम्।
तिस्रस्त्रिवर्गाधिगमस्य मूलं
जग्राह विद्याः प्रकृतीश्च पित्र्याः॥
(रघु० १८। ५०)

वाल्मीकीय रामायणमें बहुधा देवलोक, ब्रह्मलोक तथा पुनर्जन्मकी बातें यथावसर उल्लिखित हैं। श्रीरामके विरहमें सीताजी दुखी होकर कहती हैं—

नूनं ममैव शोकेन स वीरो लक्ष्मणाग्रजः।
देवलोकमितो यातस्त्यक्त्वा देहं महीतले॥
धन्या देवाः सगन्धर्वाः सिद्धाश्च परमर्षयः।
मम पश्यन्ति ये वीरं रामं राजीवलोचनम्॥
(सुन्दर० २६। ३६-३७)

'निश्चय ही वीर श्रीराम मेरे ही शोकसे महीतल छोड़कर देवलोक चले गये। उन्होंने शरीर छोड़ दिया। (यदि जीवित होते तो मुझे अवश्य ढूँढ़ लेते) वे देवता, गन्धर्व, सिद्ध, ऋषि धन्य हैं, जो कमलनयन श्रीरामको देखते होंगे।' इसी प्रकार त्रिजटाने रामका पराक्रम बताते हुए कहा था—

नहि रामो महातेजाः शक्यो जेतुं सुरासुरैः॥
राक्षसैर्वापि चान्यैर्वा स्वर्गः पापजनैरिव।
(सुन्दर० २७। २१-२२)

'जिस प्रकार पापीजन स्वर्ग नहीं पाते, उसी प्रकार सुर-असुर या सभी राक्षस—श्रीरामको जीत नहीं सकते।' श्रीविश्वामित्रने अपने वंशवर्णन-क्रममें श्रीरामसे ब्रह्मलोक जानेका वर्णन करते हुए कहा था—

एवमुक्त्वा कुशो राम कुशनाभं महीपतिम्।
जगामाकाशमाविश्य ब्रह्मलोकं सनातनम्॥
(बा० रा० १। ३४। ४)

वैनतेयने अंशुमानसे कहा था कि 'गङ्गाजलसे ही कपिल-दग्ध तुम्हारे पितर स्वर्ग जा सकते हैं'—

तया क्लिन्नमिदं भस्म गङ्गया लोककान्तया।
षष्टिपुत्रसहस्राणि स्वर्गंलोकं गमिष्यति॥
(बा० रा० १। ४१। २०)

अनुसूयाने सीतासे कहा था—तुम्हारे समान उत्तम गुणों-वाली स्त्रियाँ दिव्यलोक प्राप्त करती हैं—

त्वद्विधास्तु गुणैर्युक्ता इष्टलोकपरावराः।
स्त्रियः स्वर्गे चरिष्यन्ति यथा पुण्यकृतस्तथा॥
(२। ११७। २८)

राजर्षि विश्वामित्रके राजर्षिलोकके साथ ही ब्रह्मलोकका वर्णन है। शिवजीने राजा दशरथके स्वर्गलोक जानेका वर्णन किया था। उत्तरकाण्डमें सीताके जन्मान्तरकी कथा इस प्रकार है—

मूर्धजेषु तदा कन्यां कराग्रेण परामृशत्॥
ततो वेदवती क्रुद्धा केशान् हस्तेन साच्छिनत्।
(बा० रा०, उत्तर० १७। २६-२७)

× × ×

यस्मात्तु धर्षिता चाहं त्वया पापात्मना वने।
तस्मात्तव वधार्थं हि समुत्पत्स्येत्यहं पुनः॥
सैषा जनकराजस्य प्रसूता तनया प्रभो।
(बा० रा०, उत्तर० १७। ३०,३४)

जब रावणने वेदवतीके बालोंको क्रुद्ध होकर पकड़ लिया था, तब वेदवतीके हाथ असि हो गये थे। उसीसे उसने बालोंको काटकर-रावणको शाप दिया था कि तुम्हारे वधके लिये जानकीके रूपमें मैं ही अवतार लूँगी। भगवान् श्रीरामके ब्रह्मलोक-गमन तथा लक्ष्मणजीके इन्द्रके साथ सशरीर स्वर्ग जानेका वर्णन भी उत्तरकाण्डमें इस प्रकार है—

'रामो राज्यमुपासित्वा ब्रह्मलोकं गमिष्यति।'
(उत्तर० ५१। २१)

महाभारतमें अनेक तीर्थ एवं जलाशयोंका ऐसा वर्णन है, जिनमें स्नान करनेसे स्वर्गादि उत्तम लोक प्राप्त होते हैं। अनेक शुभकर्मों तथा युद्धमें वीरतापूर्वक शरीर त्याग करनेसे उत्तम गतियों तथा श्रीकृष्ण, अर्जुन, युधिष्ठिर आदिके सशरीर दिव्यलोक जानेके वर्णन यह बताते हैं कि महाभारतकार स्वर्ग, सूर्य, ऋषि, देव, विष्णु, ब्रह्मलोकोंसे सुपरिचित थे। नाग, गो, सारस्वत, चन्द्र (सोम) पितृलोकोंमें भी विभिन्न तीर्थोंमें स्नान कर जानेका वर्णन है। वनपर्व ८५। ३७-३८ में एक जातिस्मर ह्रदका उल्लेख है, जहाँ स्नान करनेसे पूर्वजन्मकी बातोंका स्मरण होता है। अनुशासनपर्वमें एक 'जातिस्मर कीट' का वर्णन है—जिसे पूर्वजन्मका स्मरण बना रहता था। सभा-पर्वमें 'श्रीकृष्ण भगवान् अपने गुरु सान्दीपनिके मृत पुत्रको यमलोकसे लाये थे'—ऐसा उल्लेख है। सभापर्व ३८। ८०२। 'जरानामक व्याधके बाणसे विद्ध पुरुषोत्तम ऊर्ध्वलोकको गये थे।'—ऐसा उल्लेख है। मौसलपर्व ४। २२-२३। ब्रह्मा, यम, इन्द्र, कुबेर, यमलोकोंमें इन देवोंकी सभाओंमें

रहनेवाले अनेक देवों एवं ऋषियोंका उल्लेख प्राप्त है। कालिदासकी इन्दुमती पूर्वजन्ममें हरिणी नामकी अप्सरा थी। तृणबिन्दु ऋषिके शापसे अप्सरा हो गयी थी। सोमके पुत्र वर्चा सोलह वर्षोंके लिये अभिमन्युरूपमें अवतीर्ण थे। (आदिपर्व ६७। १३) श्रीमद्भागवतमें पुरञ्जनकी देहान्तर-प्राप्तिकी कथा चतुर्थ स्क०, अ० २८। तथा भरतके देहत्यागके पश्चात् हरिण-योनिमें जानेका वर्णन स्क० ५। अ० ८ में है।

भारतीय जीवन आज बाणकी इस मान्यताको ही प्रमाण मानता है कि—**'जन्मान्तरकृतं हि कर्मफलमुपनयति पुरुषस्येह जन्मनि। नहि शक्यं दैवमन्यथाकर्तुमभियुक्तं नापि शक्यमुपपादयितुं तावत्सर्वमुपपाद्यताम्।'** कादम्बरीमें राजा तारापीडने पुत्राकांक्षिणी अपनी धर्मपत्नीसे कहा था—'जन्मान्तरका किया हुआ कर्म ही पुरुषको इस जन्ममें फल देता है। विद्वान् भी दैवको नहीं मिटा सकते। मनुष्य होकर जो किया जा सकता है, करना चाहिये।' परलोक एवं पुनर्जन्म माननेवाले ही शुभ कर्मोंका अनुष्ठान, गुरुजनोंकी भक्ति, देवोंकी पूजा, ऋषिजनोंकी सेवा करते तथा असत् कार्योंसे बचते हैं। बाण तदात्व—इसी लोकके प्रत्यक्ष जीवन माननेवाले थे। (भाग्यवादी मांखलि गोशालके विचार लोकायतवादी बृहस्पतिसे जैसे भिन्न थे, उसी प्रकार) आयति—आनेवाले जीवनको माननेवाले थे और तदात्वसे भिन्न थे। महाभारतमें प्रत्यक्षवादी तथा विदुर-सदृश प्रज्ञावादियोंका पृथक् स्पष्ट उल्लेख है।

माघने नारदजीके शब्दोंमें श्रीकृष्णभगवान्‌से कहा था—'नृसिंहके रूपमें आपने ही हिरण्यकशिपु तथा रामरूपमें रावणको मारा था, क्या आपको स्मरण है?'—

सटाच्छटाभिन्नघनेन बिभ्रता
नृसिंहसैंहीमतनुं तनुं त्वया।
स मुग्धकान्तास्तनसङ्गभङ्गुरै-
रुरोविदारं प्रतिचस्करे नखैः॥
(शिशु० १। ४७)

स्मरत्यदो दाशरथिर्भवन्भवा-
नमुं वनान्ताद्वनितापहारिणम्।
पयोधिमाबद्धचलज्जलाविलं
विलङ्घ्य लङ्कां निकषा हनिष्यति॥
(शिशु० १। ६८)

शिशुपालके तीन जन्मोंके अपराधोंका तथा वैरोंका स्मरणकर ही उसे मारकर श्रीकृष्णने भूतलका भार उतारा था।

भारतीय नित्य उत्तम लोकोंकी कामनासे ही दैनिक जीवन-यापन करते हैं। सप्तशती (मार्कण्डेयपुराण) में राजा सुरथके सावर्णी मनु होनेकी कथा, स्कन्दपुराण (सत्यनारायण-व्रत-कथा) में **'इहलोके सुखं भुक्त्वा चान्ते सत्यपुरं ययौ।'** नैमित्तिक शुभ कार्योंसे भी पुनर्जन्म-निवृत्ति तथा परम-पदकी कामना करते हैं। इस प्रकार संस्कृत-साहित्य एवं भारतीय लोक-जीवन—दोनोंमें परलोक एवं पुनर्जन्मके प्रति दृढ़ निष्ठा व्यक्त की गयी है।

जीवन और मृत्यु

(लेखक—श्रीहरिकृष्णदासजी गुप्त 'हरि')

मृत्युकी छाँहमें—

जीवन आँख खोलता है। खेल खेलता है। लक्ष्यकी ओर दौड़ता है। लक्ष्य-पराङ्मुखतामें लुभता-अटकता है। दौड़ते और लुभते-अटकते रहकर अन्ततोगत्वा क्लान्तता एवं हताशासे भरकर हारा-थका एक दिन मृत्युकी गोदमें पलक मूँदकर विश्रान्ति पाता है।

जीवनके लिये ही—

मृत्यु सदैव उसके साथ लगी रहती है। एक क्षणको भी उसे अकेला नहीं छोड़ती। एक पलको भी उसे अपनी आँखोंसे ओझल नहीं होने देती। दौड़-धूप करते जब वह हार-थककर चूर हो जाता है। उसमें कुछ करने-धरनेकी शक्ति नहीं रहती तो वह उसे उसके 'न न' करते रहनेपर भी, कान न देते हुए साथ ही अपयशकी पोट भी अपने सिरपर लेकर एक चिन्तनासे अपनी शान्तिमय गोदमें ले लेती है—चूम-चाटकर उसे नये रंग-रूपसे युक्त कर नवस्फूर्तिमय नयापन प्रदान करनेके लिये।

पुराणकी पुनर्जन्म-कथा

(लेखक—श्रीगोपालकृष्णजी मल्लिक)

(१)

प्राचीन, प्राचीनतर और प्राचीनतम, अष्टादश पुराण-साहित्यकी भारतीय वाङ्मयमें अपनी एक विशिष्ट महत्ता है। उनका अपना गम्भीर, गुरुतर, अनुपम इतिहास है। पुराण स्वयं राष्ट्र तथा देशके कल्प-कल्पान्तरोंके धार्मिक ऐतिहासिक महाग्रन्थ हैं, पर उनका अपना स्वयंका भी इतिहास है। वेद, पुराण तथा शास्त्रोंका वर्तमान रूप प्राचीनकालमें नहीं था। यह मन्वन्तर सृष्टिका सातवाँ कल्प है। शास्त्रीय सृष्टि-गणनाके अनुसार वर्तमान कल्पका नाम 'वाराह कल्प' है, जिसका यह सातवाँ 'वैवस्वत मन्वन्तर' है। इस कल्पके प्रथम बार द्वापरयुगकी समाप्तिके समय, स्वयं स्वयम्भूने आदिम व्यासका कार्यभार अपने ऊपर ओढ़कर, वेद-वेदाङ्गोंकी यथावत् संकलनाकर, शास्त्रोंको सरल एवं सुलभ स्वरूप प्रदान किया। अर्थात् वर्तमान प्राप्यग्रन्थके रूपमें परिणत किया। इस तरह वेदव्यास भी अनेक हुए। पुराण आदिकालकी कृति है, जिसके सर्व-प्रथम प्रकाशक ब्रह्माजी हुए। ऐसे सृष्टिक्रमके अनुसार ब्रह्मा भी बहुत हुए और अट्ठाईसवें कलियुगका यह युग है।

श्रीनारदजीने बृहत्कल्प-प्रसङ्गमें जिन अनेक धार्मिक आख्यायिकाओंका वर्णन किया, वही पचीस हजार श्लोकयुक्त संकलना 'नारद महापुराण' है। इसी नारद-महापुराणमें एकादशी-व्रतकी विधि और महिमाकी विवेचना करते हुए पूर्वजन्म-ज्ञाता भद्रशीलकी कथा कही गयी है। पूर्वकालकी बात है। नर्मदाके तटपर गालव नामसे प्रसिद्ध एक सत्यपरायण मुनि रहते थे। वे शम (मनोनिग्रह) और दम (इन्द्रियसंयम) सम्पन्न तथा तपस्याकी निधि थे। सिद्ध, चारण, गन्धर्व, यक्ष और विद्याधर आदि देवयोनिके लोग भी वहाँ विहार करते थे। वह स्थान कंद, मूल, फलोंसे परिपूर्ण था। वहाँ मुनियोंका बहुत बड़ा समुदाय निवास करता था। विप्रवर गालव वहाँ चिरकालसे निवास करते थे। मुनिवर गालवको एक पुत्र हुआ, जो भद्रशील नामसे विख्यात हुए। बाल्यकालमें ही उन्होंने अपने मन और इन्द्रियोंको वशमें कर लिया था और उन्हें अपने पूर्वजन्मकी बातोंका पूर्ण स्मरण था।

वे महाभाग मुनिवरकुमार निरन्तर भगवान् नारायणके भजन-चिन्तनमें लगे रहते थे। महामति भद्रशील बालकोचित क्रीड़ाकालमें भी मिट्टीसे भगवान्‌की मूर्ति बनाकर उनकी पूजा-अर्चना करने लगते थे और अपने साथियोंको भी यही करनेके लिये कहते थे। वे कहते—'मनुष्योंको सदा भगवान् नारायणकी आराधना करनी चाहिये।' अपने बाल्यकालमें ही वे प्रायः ध्यानस्थ हो जाते थे। अपने पुत्रको इस प्रकार उत्तम चरित्रसे युक्त देखकर तपोनिधि गालवमुनि बड़े विस्मित हुए और उसे हृदयसे लगाकर उन्होंने इस दिव्य चरित्रका कारण पूछा। पिताके पूछनेपर पूर्वजन्मका स्मरण रखनेवाले पुण्यात्मा भद्रशील प्रसन्न हुए। उनके मुखपर हास्यकी छटा छा गयी। उन्होंने अपने अनुभवमें आयी हुई सब बातें पिताको यथोचित कह सुनायीं।

जातिस्मर (पूर्वजन्मका स्मरण रखनेवाले) महान् भाग्यशाली भद्रशीलने अपने पूर्वजन्मकी कथा कहते हुए कहा—'पिताजी! पूर्वजन्ममें मैं चन्द्रवंशी राजा था। मेरा नाम धर्मकीर्ति था और महर्षि दत्तात्रेयसे मैंने शिक्षा पायी थी। मैंने नौ हजार वर्षोंतक सम्पूर्ण पृथ्वीका पालन किया। मैं धर्मज्ञाता था, परंतु पीछे सारा धर्म-कर्म भूलकर पूर्ण अधर्मरत हो गया। इससे मेरी प्रजा भी अधर्मरत हो गयी। एक दिन मैं एक बड़ी सेना लेकर शिकार खेलने गया। मार्गमें ही हमारी सेना हमसे बिछुड़ गयी। मैं अकेला भूख-प्याससे पीड़ित हो थका-माँदा नर्मदाके तटपर आया। सूर्यकी तीखी धूपसे संतप्त होनेके कारण मैंने नर्मदाकी धारामें स्नान किया। पर भूख-प्याससे तड़पता वहीं पड़ा रहा। कोई उपाय न था। संध्या घिर आयी थी। रात हो चली थी। रातमें वहाँ जागरण करता रहा। और हे तात! जागरण समाप्त होनेपर मेरी मृत्यु वहीं हो गयी। यमदूत मुझे यमलोक ले गये। किंतु नर्मदाके पवित्र रमणीय तटपर एकादशीके दिन निराहार रहनेके कारण मैं समस्त पापोंसे मुक्त हो चुका था। इसलिये मैंने यह दिव्य जन्म पाया। यही मेरी पूर्वजन्मकी कथा है और इसी तरह मैं जातिस्मर हुआ पिताजी!'

(२)

इसी पुराणमें जगद्विख्यात महाभाग जड़भरतके पूर्वजन्मकी कथाका अपूर्व चित्रण है, जिससे भ्रान्त-चित्तको बड़ी स्थिरता तथा शान्ति मिलती है। प्राचीनकालमें भरत नामसे प्रसिद्ध एक राजा हुए थे, जो ऋषभदेवजीके पुत्र थे और जिनके नामपर इस देशको 'भारतवर्ष' कहते हैं। राजा भरतने अपने प्राचीन पूर्वजोंसे प्राप्त राज्यका धर्मपूर्वक पालन किया। पिता जैसे अपनी संतानको संतुष्ट करते हैं, भरतराज भी अपनी प्रजाको उसी प्रकार प्रसन्न रखते थे और वे सदा भगवद्ध्यान, पूजा तथा नाना प्रकारके यज्ञोंके अनुष्ठानमें लगे रहते थे। वे सदा सत्कर्मोंमें संलग्न रहते थे। तदनन्तर पुत्रोंको अपना दायित्व देकर राजा भरत विषयोंसे विरक्त हो गये और राज्य त्यागकर मुनि पुलस्त्य एवं पुलह मुनिके आश्रममें चले गये।

एक दिन प्रातःकाल एक गर्भधारिणी हरिणी सिंहगर्जनासे भयभीत हो नदीके तटसे कूद पड़ी। उसीमें उसका गर्भपात हो गया। हरिणी मर गयी। राजा भरत नदीतटपर थे। दयावश वे अनाथ मृगछौनेको आश्रममें ले आये और उसे पालने लगे। उनके चित्तमें उसके प्रति ममता जाग उठी।

तदनन्तर कुछ काल पश्चात् ही राजा भरतकी मृत्यु हो गयी। मृत्यु-कालमें मृग-मोहके कारण राजा भरत अगले जन्ममें मृग हुए। किंतु पुण्यात्मा होनेके कारण वे जातिस्मर हुए। तदनन्तर मृगशरीर त्यागकर जातिस्मर ब्राह्मणके रूपमें इन्होंने जन्म लिया और 'जडभरत' नामसे प्रख्यात हुए। इनकी जातिस्मरताकी कथा प्रसिद्ध है।

(३)

नारद-पुराणके उत्तरभागमें नृपश्रेष्ठ रुक्माङ्गदके पूर्वजन्मकी कथा महाज्ञानी मुनीश्वर वामदेवजीद्वारा कही गयी है। नृपश्रेष्ठ रुक्माङ्गद पूर्वजन्ममें शूद्र थे। उस जन्ममें दरिद्रता तथा दुष्ट भार्याने उनका पूर्ण तिरस्कार किया। उनके पूर्वजन्मकी स्त्री सदाचारिणी नहीं थी। पर-पुरुषसेवन करते वह नीच-से-नीच होती गयी। लेकिन उस जन्मके राजा रुक्माङ्गदने लाख दुःख-कष्ट भोगनेपर भी धर्ममार्ग नहीं छोड़ा। धर्म-पथपर अविचलित वे कभी पाप-वासनामें प्रवृत्त नहीं हुए। इस जन्ममें वे ही राजा रुक्माङ्गद हुए। इन्होंने अपने पुण्यसे अपना ही नहीं, अपितु पूर्वजन्मकी अपराधिनी एक स्त्रीका भी उद्धार किया।

एक दिन राजा रुक्माङ्गद मन्दराचल पर्वतपर विहार करने गये और वहीं देवकन्या मोहिनी उनपर विमोहित हो गयी। फिर उसके अत्यधिक आग्रहपर इन्होंने उससे विवाह कर लिया। तदनन्तर वे दोनों मन्दराचलके शिखरसे पृथ्वीकी ओर प्रस्थित हुए और मार्गमें अनेक मनोहर पर्वतीय दृश्योंको देखते हुए क्रमशः नीचे उतरने लगे। पृथ्वीपर आकर राजाने अपने श्रेष्ठ घोड़ेको देखा, जो वज्रके समान कठोर टापोंसे धरतीको वेगपूर्वक खोद रहा था। उस भूभागके भीतर एक छिपकली रहती थी। घोड़ा जब तीखी टापसे धरती खोद रहा था, उसी समय वह छिपकली वहाँसे निकलकर जाने लगी। इतनेमें ही टापसे उसका शरीर विदीर्ण हो गया। दयालु राजा रुक्माङ्गद उसकी यह दशा देखकर बड़े वेगसे दौड़े और वृक्षके कोमल पत्तेसे उन्होंने स्वयं उसे घोड़ेके खुरसे बचा लिया। फिर घास एवं तृणसे भरी हुई भूमिपर उसे रख दिया और उसे मूर्च्छित देख, राजा मोहिनीसे बोले—'सुन्दरि ! शीघ्र पानी ले आओ। कमललोचने ! यह छिपकली कुचलकर मूर्च्छित हो गयी है। इसे उस जलसे सींचूँगा।'

पतिकी आज्ञासे मोहिनी शीघ्र शीतल जल ले आयी और राजाने उस अचेत पड़ी छिपकलीको उस जलसे सींचा। शीतल जलके अभिषेकसे उसकी खोई चेतना फिर लौट आयी। किसी प्रकारकी भी चोट क्यों न हो, सबमें शीतल जलसे सींचना अथवा भींगे वस्त्रसे उसपर पट्टी बाँधना उत्तम तथा हितकर माना गया है। छिपकली सचेत हुई तो राजाको सामने खड़े देख, वेदनासे पीड़ित स्वरमें धीरे-धीरे बोली—"महाबाहो रुक्माङ्गद ! मेरे पूर्वजन्मका चरित्र सुनिये। रमणीय शाकल नगरमें मैं एक ब्राह्मणकी स्त्री थी। प्रभो ! मुझमें रूप था, यौवन था, तो भी मैं अपने स्वामीकी अत्यन्त प्रिय न हो सकी। वे सदा मुझसे द्वेष रखते और मेरे प्रति कठोरतापूर्ण व्यवहार करते थे। महाराज ! तब मैंने क्रोधयुक्त हो वशीकरण औषध प्राप्त करनेके लिये ऐसी स्त्रियोंसे सलाह ली, जिन्हें उनके पतियोंने कभी त्याग दिया था और फिर वे उनके वशमें हो गये थे। भूपाल ! मेरे पूछनेपर उन स्त्रियोंने मुझे एक संन्यासिनीसे मिलनेकी सलाह दी और मैंने वैसा ही किया। उस संन्यासिनीने मुझे चूर्ण और रक्षा-सूत्र दिया, जिस चूर्णको प्रदोषकालमें दूधके साथ मैंने पतिको पिला दिया तथा रक्षा-सूत्र उनके गलेमें बाँध दिया।

"नृपश्रेष्ठ ! मेरे पति उसी दिनसे क्षयरोग-पीड़ित हो गये। उनका शरीर क्षण-क्षण क्षीण होने लगा। उनके निम्नाङ्गमें घाव हो गया और उसमें दूषित व्रणजनित कीड़े पड़ गये। कुछ ही दिन बीतनेपर मेरे पति तेजहीन हो गये। उनकी इन्द्रियाँ व्याकुल हो उठीं। वे दिन-रात क्रन्दन करते हुए मुझे बार-बार कहते—'सुन्दरी ! मैं तुम्हारा दास हूँ। तुम्हारी शरण हूँ। अब कभी परायी स्त्रीके पास नहीं जाऊँगा। मेरी रक्षा करो।' महीपते ! उनके इस रुदनने मेरे कठोर कलेजेको हिला और पिघला दिया। मैं उसी तापसीके पास गयी और उसने उनके दाहकी शान्तिके लिये दूसरी दवा दी। उस दवाने मेरे पतिको पुनः स्वस्थ कर दिया और तबसे वे मेरे अधीन हो गये, मेरे कथनानुसार चलने लगे। किंतु उसके कुछ काल पश्चात् मेरी मृत्यु हो गयी और मैं नरकयातनामें पड़ी। ताँबेके भाँड़में रखकर मुझे पंद्रह युगोंतक जलाया गया। जब थोड़ा-सा पातक शेष रह गया तो मैं इस पृथ्वीपर उतारी गयी और यमराजने मुझे छिपकलीका रूप प्रदान किया। राजन् ! इस रूपमें यहाँ रहते हुए मुझे दस सहस्र वर्ष बीत गये।

"भूपाल ! यदि कोई स्त्री अपने पतिके लिये वशीकरणका प्रयोग करती है, तो उसके समस्त धर्म-कर्म व्यर्थ चले जाते हैं और वह दुराचारिणी स्त्री ताँबेके भाँड़में जलायी जाती है। पति ही नारीका रक्षक है। पति ही स्त्रीकी गति है। पति ही उसका देव और गुरु है। जो उसके ऊपर वशीकरण प्रयोग करेगी, वह कैसे सुख पा सकती है ? वह तो सैकड़ों बार पशु-पक्षियोंकी योनिमें जन्म लेती और अन्तमें गलित कुष्ठ-रोगसे युक्त स्त्री होती है। अतः महाराज ! स्त्रियोंको सदा अपने पतिकी आज्ञाका पालन करना चाहिये। राजन् ! आज मैं आपकी शरणमें आयी हूँ। यदि आप अपना पुण्य देकर मेरा उद्धार नहीं करेंगे, तो मैं पुनः पातकयुक्त कुत्सित योनिमें पड़ जाऊँगी। भूपते ! आपने जो दान, जप, होम और देवाराधन आदि किया, वह अक्षय है। महीपाल ! आप इस पृथ्वीपर धर्मके साक्षात् स्वरूप तथा यमराजके मार्गका विध्वंस करनेवाले हैं। दया कर आप मुझ दुखियाका उद्धार करें।"

छिपकलीकी बात सुनकर मोहिनी बोली—'प्रभो ! मनुष्य अपने ही किये कर्मका ही सुख और दुःखरूप फल भोगता है। अतः स्वामीके प्रति दुष्टभाव रखनेवाली इस पापिनीसे अपना क्या प्रयोजन है ? देव ! जो दूसरेके व्यापारमें फँसते हैं, उनका अपना सुख नष्ट होता है। अतः अब हम अपने नगरको चलें।'

राजा रुक्माङ्गदने कहा—"ब्रह्मपुत्री ! तुमने ऐसी बात कैसे कही ? सुमुखि ! साधुपुरुषोंका बर्ताव ऐसा नहीं होता। जो पापी और दूसरोंको सतानेवाले होते हैं, वे ही केवल अपने सुखका ध्यान रखते हैं। सूर्य, चन्द्र, मेघ, पृथ्वी, अग्नि, जल, चन्दन, वृक्ष और संतपुरुष परोपकार करनेवाले ही होते हैं। वरानने ! प्राचीन कालमें सत्यहरिश्चन्द्र राजा हुए, जिन्हें सत्यरक्षाके लिये स्त्री और पुत्रको बेचकर चाण्डालके घरमें रहना पड़ा। वे एक दुःखसे दूसरे भारी दुःखमें फँसते गये, पर सत्यसे कभी विचलित नहीं हुए। उनके सत्यसे संतुष्ट होकर इन्द्र आदि देवता महाराज हरिश्चन्द्रके पास आये और उन्हें वर माँगनेके लिये प्रेरित किया। तब उन सत्यपरायण महाराजने ब्रह्मा आदि देवताओंसे कहा—'देवगण ! यदि आप संतुष्ट हैं और मुझे वर देना चाहते हैं, तो यह वर दीजिये कि यह सारी अयोध्यापुरी बाल, वृद्ध, तरुण, स्त्री, पशु, कीट-पतङ्ग और वृक्ष आदिके साथ पापयुक्त होनेपर भी स्वर्गलोकमें चली जाय और अयोध्याभरका सारा पाप केवल मैं लेकर निश्चितरूपसे नरकमें पड़ जाऊँ। देवेश्वरो ! इन सब लोगोंको पृथ्वीपर छोड़कर मैं अकेला स्वर्गमें नहीं जाऊँगा।'

"उनकी यह दृढ़त्यागपूर्ण दया देख इन्द्र आदि देवताओंने आज्ञा दे दी और उन्हींके साथ सारी पुरी स्वर्गलोक चली गयी। देवि ! महर्षि दधीचिने देवताओंको दैत्योंसे परास्त हुआ सुनकर दयावश उनके उपकारार्थ अपने शरीरकी हड्डियाँतक दे दीं। सुन्दरी ! पूर्वकालमें राजा शिबिने कबूतरके प्राणरक्षार्थ भूखे बाजको अपना मांस दे दिया था। वरानने ! प्राचीन कालमें इस पृथ्वीपर जीमूतवाहन नामसे प्रसिद्ध एक राजा हो गये हैं, जिन्होंने एक सर्पकी प्राण-रक्षाके लिये अपना जीवन समर्पित कर दिया था। इसलिये देवि ! राजाको सदा दयालु होना चाहिये। शुभे ! बादल पवित्र और अपवित्र स्थानमें भी समानरूपसे वर्षा करते हैं। चन्द्रमा अपनी शीतल किरणोंसे चाण्डालों और पतितोंको भी आह्लाद प्रदान करते हैं। अतः सुन्दरि ! इस दुखिया छिपकलीको मैं उसी प्रकार अपना पुण्य देकर उद्धार करूँगा, जैसे राजा ययातिका उद्धार उनके नातियोंने किया था।"

मोहिनीकी बातका इस प्रकार खण्डन करके राजाने छिपकलीसे कहा—'मैं विजयाद्वादशीको दान, जप, होम तथा देवाराधनद्वारा अर्जित समस्त पुण्य तुम्हें सहर्ष प्रदान करता हूँ। अब तुम समस्तःपापोंसे रहित हो विष्णु-लोकको जाओ।' पुण्यात्मा भूपालके ऐसा कहते ही छिपकलीरूपधारिणी उस स्त्रीने अपने इस पुराने शरीरको त्याग दिया और दिव्य शरीर धारणकर तथा दिव्य वस्त्राभूषणोंसे विभूषित हो वह दसों दिशाओंको प्रकाशित करती हुई राजाकी आज्ञा लेकर वैष्णवधामको चली गयी। वह वैकुण्ठधाम योगियोंके लिये भी अगम्य है। वहाँ अग्नि आदिका प्रकाश काम नहीं देता। वह स्वयंप्रकाश, श्रेष्ठ, अनिर्वचनीय, परमात्म-स्वरूप है।

पुराणोंमें इस प्रकार ज्ञानयुक्त उपदेशपूर्ण जन्म-जन्मान्तरके उदाहरणवाली कथाओंकी कमी नहीं है, जो हिंदू-धर्मकी आधारशिला हैं। पूर्वजन्म और जन्म-जन्मान्तरके दर्शन-आधारकी खोज हिंदू-धर्मकी एक विशिष्ट खोज है, जिस दर्शन-विज्ञान एवं अनुसंधानकी ओर आज सारे संसारके दार्शनिक तथा आध्यात्मिक वृत्तिके लोग बड़ी आतुरताके साथ अग्रसर हो रहे हैं।

मृत्यु-विज्ञानपर एक दृष्टि

(लेखक—श्रीरतनलालजी परमार)

लोल लीलामय अद्भुत यह लोक,
नहीं, महा-शक्ति को कोई रोक,
मधु जीवन, तो मरण कटु कैसे ?
प्रश्नका उत्तर तिनकेकी ओट।

आज जो प्राणी इस संसारमें नहीं हैं, उनको हम यहाँ आते हुए देखते हैं और जो जीव आज यहाँ विद्यमान हैं, कल हम उनको जाते हुए देखते हैं। यह एक अनुक्रम है कि कोई यहाँ आता है और कोई यहाँसे जाता है—ठीक उसी प्रकारसे, जिस प्रकारसे खेतोंमें बोये हुए बीज अपना अस्तित्व समाप्त कर देते हैं और अनेक नवीन बीजोंको जन्म देते हैं। जैसा कि कठोपनिषद्में मृत्युके अधिकारी देवता स्वयं भगवान् यमराजने कहा है—

'सस्यमिव मर्त्यः पच्यतो सस्यमिवजायते पुनः।'
(कठोपनिषद् १। १। ६)

यदि उक्त प्रकारके अभिक्रमकी कोई शृङ्खला सृष्टिमें सतत विद्यमान नहीं रहती, तो उसका तिरोभाव कभीका हो जाता और न कोई हमको देखने-सुननेवाला मिलता तथा न कहीं हमारा चिह्न अथवा कारण ही दिखायी देता। जो क्रम अभीतक इस विश्वका चला आ रहा है, उससे तो यह सहज अनुमान ही नहीं, अपितु विश्वास भी होता है कि हम पूर्वमें भी इस जगत्में जीवन लेकर विचरण करते रहे हैं और यहाँसे अन्तर्धान होनेके पश्चात् भी पुनः कभी हम इस जगतीतलमें इधर-उधर अपनी जीवन-लीलाका विस्तार करेंगे।

'जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च।'
(गीता २। २७)

महायोगेश्वर भगवान् श्रीकृष्णने अपने अनुपम ग्रन्थ गीतामें बड़ी निश्चयात्मक वाणीमें कहा है कि 'जातककी मृत्यु निश्चित है और मृतकका जन्म होना भी ध्रुव सत्य है' अर्थात् जो आता है, वह निश्चितरूपसे जाता है और जो जाता है, उसका पुनरागमन भी अवश्य ही होता है। यही सृष्टिका अटल नियम है। ऐसा नहीं होता तो संसार-चक्रका चलना एकदम असम्भव हो जाता। मृत्यु अवश्यम्भावी है; क्योंकि निर्माण और नाश, आविर्भाव और तिरोभाव सब एक-दूसरेके पृष्ठ-पोषक हैं और साथ-साथ ही चलते हैं।

'आत्मा वै जायते पुत्रः।'

यदि जीवन धारण किया है। तो मृत्युको वरण करना ही होगा। इसी प्रकारसे मरकर, दूसरे शब्दोंमें पञ्चभूतोंके पञ्चतत्त्वोंमें विलीन होकर भी पुनः स्थूल जीवन-धारण भी करना ही होगा। मृत्यु अभिनव जीवनका एक अद्भुत, महान् और परम सुन्दर प्रवेशद्वार है। मृत्युके परम वैज्ञानिक कल्पके बिना जीवनमें कोई सुन्दरता और नवीनता आ ही नहीं सकती। ठीक इसी प्रकारसे जीवनको थका देनेवाली और शरीरको जीर्ण-शीर्ण कर देनेवाली प्रक्रियाके बिना कलात्मक मृत्युकी आवश्यकताका भी अनुभव नहीं होता।

मृत्युका महान् विज्ञान बड़ा ही दुरूह, कठिन और रुक्ष एवं परुष है; परंतु वह न्यून उपयोगी अथवा अल्प सुन्दर

नहीं है। आवश्यकता है केवल मनोयोगपूर्वक समझनेकी। जीवनरूपी नचिकेताने साक्षात् मृत्युदेवता यमराजसे मृत्युके विज्ञानको समझनेके लिये अनेक प्रार्थनाएँ कीं और कठोर तपस्या भी की; किंतु कालाधिकाल भगवान् महाकाल मृत्यु-विज्ञानको सरलतासे सिखानेके लिये प्रस्तुत नहीं हुए। इस महान् विज्ञानको अगोचर रखनेके लिये उन्होंने नचिकेताको अनेक प्रकारके विशाल प्रलोभन भी दिये और दूसरे वरदान माँग लेनेके लिये अपनी ओरसे बहुत आग्रह भी किया। परम जिज्ञासु नचिकेताकी तत्परता और अविचल आस्थाको देखकर ही यमराजने बड़ी कठिनाईसे मृत्यु-विज्ञानके रहस्योंको प्रकट किया और विशद व्याख्याके साथ बताया कि 'जीवन और मृत्युमें एक ही तत्त्व निहित है और दोनोंकी प्राप्ति एक ही तत्त्वके माध्यमसे होती है। उसी एक ही तत्त्वकी प्रक्रियासे कालान्तरमें परिस्थितियोंके अनुसार जीवन और मृत्युके दोनों परिणाम दृष्टिगोचर होते हैं'—

यदेवेह तदमुत्र यदमुत्र तदन्विह।
मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति॥

(कठोपनिषद् २। १। १०)

मृत्युसे भयभीत होने, आतङ्कित होने किंवा विह्वल होनेकी आवश्यकता नहीं है। वह अनादि-अनन्त है, अतएव सदैव वरेण्य है। वह तिरोधानका प्रथम तथा जीवनका चरम एवं परम सत्य भी है। वह अवश्यम्भावी है, एतदर्थ भी नित्य ही स्वागत-योग्य है।

मृत्यु, जीवनका मूल अथवा दूसरा पक्ष है और निश्चित ही जीवनमें अनेक प्रकारकी सुन्दरताएँ निहित हैं। यह हो नहीं सकता कि जीवनके एक पक्षमें सौन्दर्य संनिहित हो और दूसरा पक्ष एकदम उससे सर्वथा विहीन हो। जन्म और मृत्यु दोनों ही सनातन सुन्दर हैं, शाश्वत शिव हैं और वे जीवनके प्रथम एवं अन्तिम सत्य हैं। उक्त दृष्टियोंसे जीवन और मृत्यु साक्षात् परब्रह्म परमात्माके **'सत्यं शिवं सुन्दरम्'** के अनादि-अनन्त प्रतीक हैं।

जिन तत्त्वोंमें सुन्दरताका समावेश होता है, उनमें सम्पूर्ण रूपसे कलाओंका भी समन्वय रहता है। कला और सौन्दर्यका अन्योन्याश्रित शाश्वत सम्बन्ध है। कलाके बिना किसीमें भी सुन्दरता नहीं आ सकती और सुन्दरताके बिना कलाका कोई मूल्य नहीं है। इस प्रकार जीवन एवं मृत्यु—दोनों ही कलाओंसे परिपूर्ण हैं। कला-विहीन जीवन तो पशु-तुल्य होता है। मनुष्यका जीवन तो कलासे ही सुन्दर, परिपूर्ण और सफल होता है।

जीवन-लीलाको सुन्दरताके साथ चरितार्थ करनेके लिये मृत्युकी कलापर अधिकार होना ही चाहिये। जो सुन्दरताके साथ कला-पूर्ण मृत्युको वरण नहीं कर सकता, उसका जीवन कदापि सुन्दर नहीं हो सकता। वस्तुतः जीता वही है, जो मरनेकी कला सम्यक् रूपसे जानता है। जो अच्छी प्रकारसे मरता है, वही अच्छी प्रकारसे जीवन-यात्रा पूर्ण करता है। जो प्रकृष्टरूपसे जीवन-तरणिको वहन नहीं कर सकेगा, वह उत्तम प्रकारसे मर भी नहीं सकेगा। यही सम्पूर्ण जीवनकी सुन्दर कला है।

हम मनुष्य-प्राणी जीवनके विभिन्न अङ्गोंके विषयमें खूब सोच-विचार करते हैं, मस्तिष्क खपाते हैं; परंतु जीवनके अन्तिम तथ्य-सत्यके विषयमें सोचनेसे घबराते हैं, कतराते हैं और भयभीत भी होते हैं। यह जीवनकी सम्पूर्ण सफलताके लिये कतई शुभ नहीं है। जीवनके विषयमें हमारा मोह और मृत्युके विषयमें व्यर्थका भय—दोनों ही मानव-जीवनकी सफलताके लिये हानिकारक हैं। मरण जीवन-पथकी बाधा नहीं है। जितनी शीघ्रतासे मनुष्यके मनसे यह भय निकल जाय, हट जाय, दूर हो जाय, उतना ही अच्छा और कल्याणकारी है।

वास्तवमें सुखद जीवनके पश्चात् दुःखद मृत्युका विश्वास हमारे भ्रमित मनमें जम गया है। बस, इसीलिये कभी-कभी हमको जीवन भी दुःखमय प्रतीत होने लगता है। किंतु, यदि कहीं सौभाग्यसे जीवनके पश्चात् परम सौन्दर्यमयी मृत्युका ध्रुव विश्वास हमारे विचलित मनको हो जाय तो फिर उसको स्वयं ही 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' बननेमें कुछ विशेष विलम्ब नहीं लगेगा।

और जिसकी मृत्यु 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' (भगवान्) में स्थित होकर सम्पन्न होती है—उसके लिये भगवान्‌ने कहा है—

अन्तकाले च मामेव स्मरन् मुक्त्वा कलेवरम्।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः॥

(गीता ८। ५)

'जो पुरुष अन्तकालमें मुझको (भगवान्‌को) स्मरण करता हुआ शरीर त्यागकर जाता है, वह साक्षात् मेरे भाव (भगवान्‌को या ब्रह्म) को प्राप्त होता है, इसमें कुछ भी संशय नहीं है।'

शाप और वरदानसे आयुनाश और आयुवृद्धि

(लेखक—डॉ० श्रीसम्पूर्णानन्दजी पाण्डेय, एम्० ए०, पी-एच्० डी०)

आधुनिक विज्ञानकी खोजोंसे यह प्रमाणित हो चुका है कि शब्द (वह चाहे किसी प्रकारका क्यों न हो) कभी भी नष्ट नहीं होता । वैज्ञानिक इसी तथ्यपर ऐसे यन्त्रोंके निर्माणके लिये प्रयत्नशील हैं, जिनके द्वारा आजसे सहस्रों वर्ष पूर्व हुए महात्माओं-की वाणीको शुद्ध रूप (Direct form) में संगृहीत किया जा सके ।

हम जो कुछ भी बोलते हैं, वायु-तरङ्गोंमें फैलता-फैलता इतना सूक्ष्म हो जाता है कि उसे हम अपने सामान्य कानोंसे नहीं सुन सकते और इस कारण हम मान लेते हैं कि बोले जानेके कुछ समय पश्चात् ही शब्दका अस्तित्व समाप्त हो जाता है ।

परमात्माकी सृष्टि बड़ी ही विचित्र है । स्थूल वस्तुओंकी अपेक्षा सूक्ष्म वस्तुएँ अपने अस्तित्वको अधिक समयतक सुरक्षित रख सकती हैं । साथ ही उनका प्रभाव देश और कालकी सीमासे परे होता है । सामान्यतः विद्वानोंने शब्दको ही अति सूक्ष्म और सर्वाधिक प्रभावशाली माना है; किंतु विचार (Thinking) उससे भी अधिक सूक्ष्म और प्रभावशाली है । हमारे धर्मशास्त्रोंमें **'मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः'** वाली जो उक्ति मिलती है, उसके पीछे रहस्यकी बात यही है कि हम जैसा विचार करते हैं, उसीके अनुरूप हम बन जाते हैं । अर्थात् यदि हम निरन्तर ईश्वरके विषयमें सोचते रहते हैं तो हम कुछ समयके उपरान्त तदनुरूप बन माया-मुक्त हो सकते हैं और यदि इस संसारके विषयमें ही निरन्तर चिन्तन करते रहेंगे, तो संसारके अनुरूप बने हुए माया-मोहके बन्धनमें पड़े जन्म-मृत्युके हिंडोलेमें ही झूलते रहेंगे ।

विचार (Thinking) एक ऐसी शक्ति है, जिसका सीधा सम्बन्ध परमात्मासे होता है । जिसका सम्बन्ध परमात्मासे होगा, निश्चित ही वह परमात्मासे शक्ति प्राप्त करते रहनेके कारण सर्व-शक्तिमान् परमात्माकी शक्तिके समीप पहुँचता जायगा । प्रार्थनाके पीछे यही रहस्य छिपा है । यही रहस्य शाप और वरदानके पीछे भी है । जब कोई व्यक्ति आशीर्वाद देता है तो अप्रत्यक्ष रूपसे वह मानो ईश्वरसे हमारी कल्याण-कामना करता है । उदाहरणार्थ—यदि किसी व्यक्ति (महात्मा, माता-पिता या गुरुजन) ने प्रसन्न होकर हमें आशीर्वाद दिया—'कल्याण हो' तो उसने मानो हमसे 'कल्याण हो'—कहनेके साथ-ही-साथ ईश्वरसे भी कह दिया—'हे ईश्वर ! अमुकका कल्याण होना ही चाहिये ।' साथ ही हमारे कल्याणके लिये आशीर्वाद-दाताके मुखसे निःसृत वाणी वायु-तरङ्गोंमें व्याप्त हो सूक्ष्मातिसूक्ष्म होकर हमें कल्याणकी दिशामें ले जाती है । ठीक इसी प्रकार जब कोई व्यक्ति कहता है—'तेरा नाश हो' तो उसके साथ ही उसका आत्मा परमात्माके पास मानो संदेश भेजता है—'हे प्रभु ! अमुकका तो नाश होना ही चाहिये' और फिर वाणीसे निःसृत शब्द वायु-तरङ्गोंमें फैलकर हमें 'नाश' की ओर ले जाते हैं । यह है आशीर्वाद और शापका तात्त्विक विवेचन ।

वरदान तथा शापसे देनेवालोंके पुण्यका क्षय तो होता ही है, पर वरदानसे किसीका भला हो जानेके कारण उसके नवीन पुण्यका अर्जन तथा संग्रह भी हो जाता है । शाप देकर किसीका बुरा चाहनेवाला पुण्यनाशके साथ ही पापको भी प्राप्त होता है । परमात्मा न्यायस्वरूप

निरपेक्ष हैं। वे किसीके कहनेसे किसीका भला-बुरा नहीं करते; पर दाताके पुण्यफलसे परमात्माकी फल-निर्माण करनेवाली नियन्त्रणशक्तिके द्वारा फलका उदय होता है।

श्रेणी-विभागकी दृष्टिसे शाप और आशीर्वाद दो प्रकारके होते हैं—

१.वैचारिक और २.शाब्दिक।

वैचारिकसे तात्पर्य है—जो विचारोंसे सम्बद्ध है। इसके लिये आवश्यक नहीं कि इसका प्रकटीकरण शाब्दिकरूपमें हो ही। यह मौन रहकर भी किया जा सकता है। कुछ दिन पूर्व पत्रमें एक घटना छपी थी—'कुछ यात्री नावसे नदी पार कर रहे थे। उसी नावपर दो साधु बैठे थे। कुछ समयोपरान्त दो पुलिस-वाले भी आ गये। उनमेंसे एक बहुत ही उद्दण्ड था। वह एक साधुको थप्पड़ मारकर बलात् उसके स्थानपर बैठ गया। साधु मौन था। लोगोंने कहा—'बाबाजी छोटा-मोटा शाप दे डालो, क्या बेचारेको जड़मूलसे ही ले डालोगे।' किंतु बाबाजी एक शब्द भी न बोले। वर्षासे उमड़ी हुई नदीके प्रवाहको चीरती नाव चली जा रही थी। बाढ़के जलको रोकनेके उद्देश्यसे तटपर नोकदार लोहेकी मोटी-मोटी सलाखाएँ लगा दी गयी थीं। नाव किनारे पहुँच रही थी कि सिपाही शीघ्रतासे धारामें कूद पड़े, जल्दी ही तटपर पहुँचनेकी इच्छासे। 'एक तो सलाखोंके उस पार कूद गया, किंतु दूसरे (साधुका अपमान करनेवाले) का निशाना चूक गया और वह सलाखासे बिंध गया। उसका मृत शरीर चरखीकी भाँति जलमें नाचने लगा। साथके सभी व्यक्तियोंने मनमें यह स्वीकार किया कि यह साधुके अपमान और उसके द्वारा दिये गये मौन शापका ही परिणाम है।

दूसरे प्रकारका शाप और आशीर्वाद होता है—शाब्दिक। जिसे हम वाणी या लेखनीद्वारा प्रकट करते हैं, वह 'शाब्दिक' कहलाता है। वैचारिककी भाँति यह मौन रहकर नहीं दिया जा सकता। सामान्यतः इस कोटिका शाप या आशीर्वाद वैचारिककी तुलनामें कुछ कम प्रभावका होता है। ऐसा भी हो सकता है कि यह विचारोंसे पूर्णरूपेण अनुप्राणित न हो। आजके युगमें कभी-कभी तो लोग स्वार्थ अथवा सामान्य व्यवहारके कारण ही बात-बातपर आशीर्वाद देते रहते हैं और स्वार्थमें थोड़ी-सी भी बाधा आनेपर शाप देने लगते हैं। जबतक आशीर्वाद या शापके पीछे दाताके पुण्यकी तथा विचारोंकी समर्थ तथा दृढ़ पृष्ठभूमि नहीं होती, तबतक उसकी पूर्णता (सफलता) में संदेह ही है।

मनुस्मृति (२। १२१) में कहा गया है—

अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः।
चत्वारि तस्य वर्धन्ते आयुर्विद्या यशो बलम्॥

'जो पुरुष नित्य माता-पिता, गुरुजनों-वृद्धोंको प्रणाम तथा उनकी सेवा करता है, उनके आशीर्वादसे उसकी आयु, विद्या, यश और बल बढ़ते हैं।'

आदर्श अभिलाषा

नयनं गलदश्रुधारया वदनं गद्गदरुद्धया गिरा।
पुलकैर्निचितं वपुः कदा तव नामग्रहणे भविष्यति॥

(श्रीचैतन्य महाप्रभु)

आपका नामग्रहण करते हुए मेरे नेत्र अश्रुधारासे, मुख गद्गद वाणीसे और शरीर पुलकावलिसे कब पूर्ण हो जायगा?

भलाई, बुराई और दवाई

(रचयिता—पं० श्रीसीतारामजी शुक्ल, भूतपूर्व एम्० एल० ए०)

स्वराज्य मिल गया लेकिन सुधार बाकी है।
अभी बहुतसे दिलोंमें गुबार बाकी है॥
सही है यह कि बहुत-सी बनीं सड़कें नहरें।
खेती-बारीकी तरक्की हुई फसलें लहरें॥
कारखाने खुले कुछ, गाँवमें बिजली भी लगी।
ठेकेदारोंकी मजूरोंकी किस्मत भी जगी॥
जमीमें, जलमें, हवामें जहाज उड़ते हैं।
नजारे टेलीविजनमें दिखायी पड़ते हैं॥
कर्ज पर कर्ज मगर रोज लिया जाता है।
जहरको शौकसे हर रोज पिया जाता है॥
फायदा कुछ नहीं, कन्ट्रोल मगर जारी है।
समाजवादकी फैली हुई बीमारी है॥
हर एक चीजकी, मँहगी है, मिलावट भी है।
धनी गरीबकी हालतमें गिरावट भी है॥
भुखमरी और घूसखोरी, काम-चोरीके।
सुनायी देते हैं किस्से हरामखोरीके॥
लुट रहा सामने ईमान खजाना अपना।
समझते वो हैं तरक्कीका जमाना अपना॥
सबको कहता नहीं कुछ लोग बहुत सच्चे हैं।
न सिर्फ इल्ममें, चालोचलन भी अच्छे हैं॥
मगर बहुमत है हुआ, ऐसे अक्लमंदोंकी
चर्चा घर-घरमें हो रही है, जिनके फंदोंकी॥
बिरादरी बराबरी समाजवाद कहीं।
भोले-भालोंको, सुना कर बनें उस्ताद कहीं॥
पढ़े-लिखे नहीं, पर शौक मेम्बरीकी है।
दिखाना सब्ज बाग, राह लीडरीकी है॥
ठेका, लैसन्स, नौकरी, तबादिला, कोटा।
कर्जा इमदाद, कोई काम बड़ा या छोटा॥
बात-की-बातमें हो जायेगा पूरा सब दिन।
आपने वोट अगर दे दिया मुझको एक दिन॥
वादे करके दिलोंको वो लुभा लेते हैं।
वक्त पड़ने पै मगर बात भुला देते हैं॥
लीडरीके लिये आपसमें लड़े जाते हैं।
हसदकी आग जल-जलके मरे जाते हैं॥
मेम्बरी दिलमें जबाँसे कहें हड़ताल करो।
गोली चलने दो मगर रेलको पामाल करो॥
जाली मेम्बर बनाके पार्टीमें आते हैं।
अपने नेताको दगा देके चले जाते हैं॥
बदलके दलको गद्दीपर बैठ जाते हैं।
अपनी इज्जतको गवाँ करके मुस्कराते हैं॥
देखता इनकी शरारतसे सजा पावोगे।
चाहे जितना भी सियासतसे जी चुरावोगे॥
भाइयो! अब तो जरा अक्ल सँभालो अपनी।
सो के धन खो चुके, इज्जत तो बचा लो अपनी॥
पहले खुद नेक बनो, बादमें तकरीर करो।
कबूल कर लो अगर तुम, कहीं तकसीर करो॥
खयाल गैरका पहले करो, पीछे अपना।
खिदमते मुल्कमें कुर्सीका न देखो सपना॥
उनके पीछे तो सीट आप चली आती है।
जिस तरह नदी समुन्दरमें बही जाती है॥
स्वराजके सिपाहियोंको शिकायत न रहे।
तमगा, पेन्शन दो, इज्जत करो किफायत न रहे॥
मगर वहदा दो, जो जालिम वो होशियार भी हो।
मुल्कके वास्ते जिसने किया कुछ त्याग भी हो॥
जिसकी तहरीर व तकरीर मजेदार भी हो।
अपनी ड्यूटी पै मौतके लिये तैयार भी हो॥
ऐसे इन्सान बहुत कम हैं, मगर मिलते हैं।
जिनके हर कामसे हर एकके दिल खिलते हैं॥
तब गरीबी व जहालत न दिखायी देगी।
भाई-भाईमें लड़ाई न सुनायी देगी॥
खिलेंगे फूल चमनमें, बहार लायेंगे।
अपनी खूशबूसे वो दुनियाँके दिल लुभायेंगे॥

पढ़ो, समझो और करो

(१)

घनश्यामजीका कृपा-चमत्कार

[सत्यकथापर आधारित]

प्राचीन कालमें किसी नगरमें एक सत्यनिष्ठ, संतोषी, भगवद्भक्त गृहस्थ ब्राह्मण रहता था। उसकी पत्नी और दुधमुँही बच्चीतक ही उसका परिवार सीमित था। ब्राह्मण उषाकालमें शौचादिसे निवृत्त हो घनश्यामजीके मन्दिरमें चला जाता; जहाँ वह दर्शन, कीर्तन और भक्तिमें निमग्न हो जाता। मध्याह्नके समय वह घर आता, भोजन करता और पुनः वहीं चला जाता, जहाँ शामतक भजन-कीर्तन करता और शामको घर आता। भोजनोपरान्त घरसे मन्दिर पहुँच जाता और अर्धरात्रितक वहीं घनश्यामजीकी 'चाकरी' (सेवा) में रत रहता। इसी दिनचर्यासे जीवन-यापन करते-करते कई वर्ष व्यतीत हो गये। बच्ची सयानी हो गयी। ब्राह्मणीको अपनी पुत्रीके पीले हाथ करनेकी चिन्ता हुई। ब्राह्मण निश्चिन्त और भक्तिनिमग्न था। ब्राह्मणी उसे अब नित्यप्रति पुत्रीके विवाहके बारेमें कहने लगी; पतिकी दिनचर्या और मानसिक स्थितिमें कोई अन्तर नहीं आया। पत्नीने किसी प्रकारसे लड़कीका सम्बन्ध (सगाई—वाग्दान) किया। विवाहका दिन तय हुआ और निश्चित लग्न—मुहूर्त्त निकट आने लगा। ब्राह्मण-के कानपर जूँतक न रेंगी; दिन व्यतीत होते ही गये। विवाहकी तिथि अति निकट आ गयी, ब्राह्मणीका आग्रह बढ़ा। ब्राह्मणी कहने लगी कि 'धन लाओ, जिससे पुत्रीका विवाह सम्पन्न हो।' ब्राह्मणने कहा—'ठाकुर-जीसे निवेदन कर दूँगा।' पतिपरायणाने विश्वास कर लिया। दूसरे दिन पत्नीने धन माँगा। पतिने कहा, 'आज निवेदन कर दूँगा। घनश्यामजीसे कल निवेदन करना भूल गया।'

दूसरे दिन पति गया, भगवान्‌के दर्शन किये और प्रार्थना की कि 'पुत्रीके विवाहके लिये धन चाहिये।' तत्पश्चात् सदैवकी भाँति भगवद्भक्तिमें तल्लीन हो गया। संध्याको पत्नीके पूछनेपर बताया कि 'घनश्यामजीसे वह निवेदन कर चुका है।' पत्नीका धैर्य छूटने लगा। ब्राह्मणने पूछा कि 'कितने धनकी आवश्यकता होगी।' हिसाब लगाया—जोड़कर देखा कि तीन सौ इक्कीस रुपये चार आनेमें कार्य चल सकेगा। ब्राह्मणने एक प्रार्थना-पत्र लिखा और दूसरे दिन दर्शन करते समय भगवान्‌के सामने वह प्रार्थनापत्र रख दिया एवं निवेदन भी बड़ी सरलतासे कर दिया कि 'अब ब्राह्मणी अधिक अधीर हो गयी है; धनाभाव उसको स्वयंको भी दुखी कर रहा है।'

ब्राह्मण रात्रिको जब मन्दिरसे घर जा रहा था, तब एक भद्रपुरुष उसे मन्दिरके आँगनमें मिला और उसने कहा कि 'यह थैली मन्दिरके स्वामीने आपकी पुत्रीके विवाहके लिये भेजी है—आप इसका उपयोग करें।' ब्राह्मण उसे घर ले गया, उसमें पाँच सौ रुपये थे। ब्राह्मणने रुपये पत्नीको दे दिये। विवाहका कार्य सम्पन्न हुआ और संतोषी ब्राह्मणने उतने ही रुपये खर्च किये, जितने प्रार्थनापत्रमें लिखे थे एवं शेष धनराशि उसी थैलीमें रख दी तथा एक प्रार्थनापत्र भी रख दिया कि 'ठाकुरजीकी कृपासे उसकी पुत्रीका विवाह सम्पन्न हो गया है और शेष राशि ठाकुरजीकी सेवामें समर्पित है।'

ब्राह्मणका जीवन पूर्वनिर्दिष्ट रूपसे चलता रहा। पड़ोसिनको ईर्ष्या हुई कि गरीब ब्राह्मण, जो कुछ नहीं अर्जित करता, उसकी लड़कीका विवाह विधिवत् कैसे हो गया? मुहल्लेमें यह चर्चा चल ही रही थी कि राजाने अपना कोष सँभाला। उसमें रुपये

कम थे । राजाने कोषाध्यक्षको बुलाया और उसे कारागृहमें डाल दिया । राजाको ब्राह्मणके लिखे हुए दो प्रार्थनापत्र भी मिले । राजाने ब्राह्मणको भी बुलवाया ।

ब्राह्मणके घर राजाके दूत पहुँचे और उसे किलेमें ले गये । पड़ोसिन प्रसन्न हुई । कहने लगी कि सत्यव्रतकी दुहाई देनेवाले ब्राह्मणने चोरी करके अपनी लड़कीका विवाह कर दिया, नहीं तो राजाके दूत उसे क्यों पकड़कर ले जाते ? मोहल्लेमें भिन्न-भिन्न प्रकारकी चर्चा चलने लगी । ब्राह्मणी खिन्न हुई । वह मन-ही-मन सोचने लगी—'मैंने क्यों पतिदेवको धनके लिये कहा ? क्या निर्धनोंकी पुत्रियाँ अविवाहित रहती हैं ? यदि रहें भी तो क्या ? अब मेरे पतिका क्या होगा ?' वह रोने लगी ।

ब्राह्मणको राजाके सम्मुख प्रस्तुत किया गया । बहुत ही कठोरतासे राजाने पूछा—'तुमने ये प्रार्थना-पत्र लिखे ?'

ब्राह्मणने निर्भीकतापूर्वक कहा—'हाँ' ।

राजा—'रुपये भी तुम्हें मिले ?'

ब्राह्मण—'हाँ ।'

राजा—'तुम्हारी पुत्रीका विवाह हुआ ?'

ब्राह्मणने कहा—'हाँ ।' राजाकी क्रोधाग्नि भभक उठी । उसने तत्काल ही उसे कारागृहमें डालनेका आदेश दिया और स्वयं उठकर अन्तःपुरमें चला गया । राजाके चर ब्राह्मणको कारागृहमें ले जाने लगे । उसी समय उसी प्रतिष्ठित भद्र पुरुषने आकर चरोंको आज्ञा दी कि 'वे ब्राह्मणको तबतक नहीं ले जायँ, जबतक वह राजासे मिलकर बाहर आता है ।' राजाके चर आतङ्कित हो गये—ब्राह्मण वहीं बैठा रहा ।

भद्रपुरुष महलमें गया । राजा तबतक शयन-कक्षमें पहुँच चुका था । उस भद्रपुरुषने राजासे कहा—

'क्यों क्या कर रहे हो ?'

राजाको कुछ भी दिखायी नहीं दिया, केवल स्वर सुनायी दिया । प्रश्न पुनः दोहराया गया । राजा भयभीत हुआ । प्रश्न पुनः किया गया । राजा अत्यन्त आतङ्कित हुआ ।

राजा—महाराज ! आप कौन हैं ?

स्वर—तुम नहीं जानते ? मैं घनश्याम हूँ ।

राजा—(भयभीत स्वरमें) क्या आज्ञा है ?

स्वर—तुमने मेरे भक्तको कष्ट दिया है !

तुम्हें ज्ञात नहीं, उस ब्राह्मणने प्रार्थना-पत्र मुझे लिखे थे । मैंने उसे ५००) (पाँच सौ रुपये) दिये और उसने बची हुई रकम लौटा भी दी, फिर भी तुमने उसे दण्ड दिया ।

राजा—क्षमा करो प्रभु !

स्वर—उसे ५००) (पाँच सौ) और दो ! उसकी आजीविका-निर्वाहका प्रबन्ध करो एवं उसे ससम्मान घर पहुँचाओ । कोषाध्यक्षको भी तुरंत छोड़ दो ।

राजाने कहा—'जैसी आज्ञा ।' राजा बाहर आया । उसने अपने चरोंसे पूछा कि ब्राह्मणको कारागृहमें क्यों नहीं ले गये ? उन्होंने उस भद्र पुरुषके आदेशको कह सुनाया । राजाने ब्राह्मणको पालकीमें बैठाकर घर भेजा । उसके घर पाँच सौ रुपये भिजवाये और उसकी आजीविका-निर्वाहका प्रबन्ध किया ।

मोहल्लेके दुराचारियोंके मुँहपर ताले पड़ गये । ब्राह्मणकी दिनचर्या पूर्ववत् चलने लगी; ब्राह्मणी संतोष-पूर्वक सुखसे रहने लगी । नगरमें ब्राह्मणकी भगवद्भक्ति अनुपम उदाहरण बन गयी और आज भी यत्र-तत्र लोग उसकी भक्तिकी चर्चा करते हैं । गाते हैं—

नाहं वसामि वैकुण्ठे योगिनां हृदये न च ।
मद्भक्ता यत्र गायन्ति तत्र तिष्ठामि नारद ॥

(२)

रुपयोंके मोहमें जीवन कैसे बिगाड़ा जाय ?

'हजार लीजिये साहब !'—सर्जनकी कबसे खुशामद कर रहे थे, उन्हें मना रहे थे—ये सेठजी। अन्तमें उन्होंने रुपयेकी बात कहकर मूल रीति-नीतिको अजमाया। स्पेशल वार्डके अंदर बातचीत चल रही थी। दरवाजेके पास खड़ा मैं सब कुछ देख-सुन रहा था।

'दो हजार'—बहुत धीरेसे तुरंत इस ऑफरकी आवाज सुनायी दी। मैंने सोचा, बस, अब सर्जन 'हाँ' कर देंगे। मैं उनका नया सहकारी था, उनसे मेरा खास परिचय नहीं था। मुझे आश्चर्य हो रहा था कि सर्जन इतना बड़ा ऑफर होनेपर भी क्यों नहीं यह काम कर देते ?

सीधी-सादी बात थी खून लेनेकी। परिस्थिति गम्भीर बनी जा रही थी। खूनकी तत्काल जरूरत थी और·····रात्रिका समय तथा धीमी वर्षा। यों तो खूनके लिये दो आदमी दौड़ाये जा चुके थे। पर उनमेंसे एक भी लौटा नहीं; इधर रोगीकी हालत उत्तरोत्तर गिरती जा रही थी।

बगलकी ही चारपाईपर एक दूसरा रोगी सो रहा था। शरीरको देखते उसे अच्छा बतलाया जा सकता था। दो दिन पहले ही उसका ऑपरेशन हुआ था। उसका खून समान वर्गका है, इसका मुझे पता लग गया था। सेठकी इच्छा स्पष्ट थी। वे चाहते थे—उस रोगीके खूनसे तात्कालिक काम चला लिया जाय, इसमें आपत्ति क्या है। वह रोगी इस समय अकेला ही था, शरीर भी कमजोर नहीं था। उसके खूनसे सेठके लड़केकी रक्षा हो जाय और सर्जनको मिल जायँ—दो हजार नगद।

हाँ ! इसमें कुछ जोखिम जरूर थी। एक रोगी अच्छा हो और दूसरेका कदाचित् काम तमाम हो जाय। पर यह तो कौन जानता है ? पैसे मिलते हों तो·····तो·····।

सर्जनने सेठके लड़केकी नाड़ी देखी। उनके चेहरेपर गहरी चिन्ता दिखायी दी।

तुरंत ही सेठ पूरे पाँच हजारका ऑफर करके सर्जन साहबके पैरोंपर गिर गये।

समयकी कीमत है। मुफ्तमें या सौ दो सौ खर्च करके मिलनेवाले खूनके लिये पाँच हजार ! लक्ष्मी सामने आकर तिलक करना चाहती थी।

सेठको कुछ भी उत्तर न देकर सर्जनने मेरी तरफ देखकर कहा—'फोन मिलाओ तो·····खूनका क्या हुआ।'

'परंतु सर ! इसका खून लेने दीजिये न; इसमें·····सेठ कहने लगे।'

'हरगिज नहीं, सेठ ! माफ कीजियेगा। ऐसा कभी नहीं हो सकता।' सर्जनने बात काटते हुए कहा।

इसके बाद पाँचेक मिनटमें खून आ पहुँचा।

मेरे मनमें असमंजस रह गया। सर्जनने व्यर्थ ही पाँच हजार खोये।

रातको बारह बजे हमलोगोंको छुट्टी मिली, चेम्बरमें गये। मेरे मनसे पाँच हजार खोनेकी बात निकली नहीं थी। निकलती भी कैसे ?

सर्जनके सामने बैठा काफी पीता हुआ मैं उनकी ओर देखता रहा। उन्होंने बात चलायी।

'पैसा किसको प्यारा नहीं होता; परंतु····' और उन्होंने कहा—लगभग बत्तीस वर्ष पहलेकी बात है। मैं उस समय लगभग दो-एक वर्षका रहा हूँगा। मेरी माताजीका ऑपरेशन करवाया गया था। माँकी उम्र

मुश्किलसे पचीस वर्षकी होगी। ऑपरेशन तो सफल हो गया। पर कमजोरीके कारण माँकी हालत बहुत अच्छी नहीं थी। ऑपरेशनके तीसरे-चौथे दिन आजकी-जैसी ही एक घटना हुई।

एक नयी स्त्री रोगिणी आयी थी। उसका भी ऑपरेशन किया गया था। रातको उस बहिनकी तबियत अचानक बिगड़ी। खूनकी तत्काल जरूरत हुई। उस समय ब्लड-बैंकोंकी ऐसी सहूलियत थी ही नहीं। मेरी माँका खून समान ग्रूपका था। पिताजी भोजन करने बाहर गये हुए थे। माँ कुछ तन्द्रामें थी·····और इस बीचमें कोई आ जाय तो डाक्टर यह कह सकते थे कि 'जाँचनेके लिये खूनकी जरूरत है।'

और, पैसेके मोहमें पड़कर डाक्टरने मेरी माँका खून लेना शुरू किया—एक बार····दो बार····। इतनेमें मेरी मौसी आ गयीं। वे कालेजमें पढ़ती थीं। उन्होंने डाक्टरसे पूछा। डाक्टर सहम गये। मौसीजीने तुरंत ही फोनको हाथमें लिया।

इसी बीच डाक्टरने जल्दीसे कोई जहरीला इन्जेक्शन माँके लगा दिया, जिससे वह अपना बयान ही न दे सके।

डाक्टर धर्मसे चूके। रीति-नीतिसे गिरे। पर पिताजीने डाक्टरको माफ कर दिया।

पिताजीको इतना आघात लगा कि भरी-जवानीमें उन्होंने फिरसे विवाह करनेका विचार सर्वथा त्याग दिया और एकमात्र मुझमें ही ओत-प्रोत हो गये।

डाक्टरकी जिस दुर्भावनाने मेरी माँके प्राण लिये, मेरे द्वारा उसी दुर्भावनाका सेवन कैसे किया जा सकता है? पिताजीकी उच्च-चरित्रशीलता प्रतिक्षण मेरे सामने रहती है। पैसेके लिये मुझसे किसी प्रकारकी अनीति हो जाय तो पता नहीं, पिताजी क्या कर बैठें। अब बताओ—पाँच या दस हजारके लिये मुझसे अपना जीवन कैसे बिगाड़ा जाय?'

सर्जनके साथ ही मेरी आँखें भी गीली हुए बिना न रह सकीं और उसी क्षण डाक्टर बनकर दौलत कमानेकी मेरी बहुत-सी धारणाएँ मेरे सामनेसे ही हट गयीं। 'अखण्ड आनन्द'

—हेमराज एम० काचा

(३)

एक मैजिस्ट्रेट महोदयकी आदर्श गुरुभक्ति

आजकल लोगोंके मुखसे प्रायः बराबर ऐसा सुननेमें आता है कि 'बड़ेसे लेकर छोटेतक जितने सरकारी नौकरी करनेवाले हैं, सभी स्वार्थी और अविचारी हैं।' किंतु हमारी समझमें ऐसी बात नहीं है। सभी क्षेत्रोंमें सभी तरहके लोग हैं। इनमें अनेक निःस्वार्थी तथा सद्विचारवाले सज्जन भी हैं। ठीक ऐसे ही एक सद्विचारसम्पन्न गुरुभक्त मैजिस्ट्रेट महोदयकी घटना नीचे लिखी जा रही है।

गत वर्षकी ही बात है, रेलमें मैजिस्ट्रेट-चेकिंग खूब जोरोंसे चल रही थी; परंतु बार-बार, दण्डित होनेपर भी बिना टिकट यात्रा करनेवालोंकी संख्या दिनोंदिन बढ़ती ही जा रही थी। इससे तंग आकर उक्त मैजिस्ट्रेट साहबने ऐसा निश्चय कर लिया था कि 'आज मैं कम या ज्यादा अपराध करनेवाले, कोई भी हों, सबपर दो सौ रुपयेसे कम जुर्माना नहीं करूँगा।'

समस्तीपुर जंकशनसे गाड़ी चली। पूसारोड स्टेशन और ढोली स्टेशनके बीचमें रोक दी गयी। चेकिंग चलने लगी। बिना टिकट सफर करनेवाले बहुत लोग पकड़े गये और दण्डित हुए। १०१ नम्बरके बाद १०२ नम्बरका अपराधी सामने लाया गया। मैजिस्ट्रेट साहबने उससे कहा—'क्यों साहब! आप वयोवृद्ध होकर एक बालकके समान बिना टिकट सफर क्यों किया

करते हैं ?' इसपर उस अपराधीने कहा कि 'श्रीमान् ! मैं जानता हूँ कि बिना टिकट सफर करना पाप है, किंतु मुझे विवश होकर ऐसा करना पड़ा, टिकट लेनेका समय नहीं मिला। सोचा कि गार्ड-साहबसे कह देंगे, किंतु गाड़ीमें बहुत अधिक भीड़ होनेके कारण गार्ड-साहबसे कह देनेका भी मौका नहीं मिला।' इसपर मैजिस्ट्रेट साहबने कहा—'तब तो आपपर दो सौ रुपये जुर्माना किया जाता है।' इतना कहकर दो सौ जुर्माना लिख दिया। दो सौ रुपया जुर्माना सुनते ही उक्त वृद्ध सज्जनकी आँखोंमें आँसू डबडबा आये और लड़खड़ाती जबानसे उन्होंने मैजिस्ट्रेट साहबसे कहा—'हुजूर ! विपत्तिमें ही विपत्ति आया करती है। रुपयेके लिये ही तो मैं बरौनीके समीप रहनेवाले बाबू राम.... सिंहजीके पास गया था। वहाँ उनसे भेंट न होनेके कारण मुझे शीघ्रातिशीघ्र लौट आना पड़ा; क्योंकि आजसे तीसरे दिन ५००) रुपयेकी मुझे अत्यन्त आवश्यकता है।' इसपर मैजिस्ट्रेट साहबने पूछा—'उनसे आपका कैसा परिचय है ? और वे आपको कैसे रुपये देते ?' 'हुजूर ! मैं उनके यहाँ सात वर्षतक रह चुका हूँ। मैं बरौनी जंकशनके समीप मिडल स्कूलमें अध्यापक था। बाबू साहबका एक लड़का था, उसको मैं (ट्यूशन) पढ़ाया करता था। इतने भारी धनी होनेपर भी उनमें लेशमात्र भी अभिमान नहीं है। आश्चर्य तो यह है कि उनके परिवारमें जितने व्यक्ति हैं, सभी अभिमानरहित और बड़े दयालु देखनेमें आये।' मैजिस्ट्रेट साहबने पूछा—'तो फिर क्या हुआ।' वृद्ध सज्जनने कहा—'वे घर नहीं हैं, तीर्थयात्रामें गये हुए हैं।' पुनः मैजिस्ट्रेटने पूछा—'तो क्या वे रहते तो आपको रुपये दे देते ? ऐसा आपको विश्वास है।' उन्होंने कहा—'अवश्य देते; क्योंकि वे बड़े दयालु हैं। मैं जिस समय वहाँ था, बराबर देखता था कि वे किसी अपरिचितको भी दुःखमें देखकर और आवश्यकता समझकर द्रवित हो हजार-हजार रुपये दे देते थे। वे सदा कहा करते थे कि उस धनसे क्या लाभ जो किसीके समयपर काम न आवे।' मैजिस्ट्रेट साहबने पूछा—'आजसे कितने दिनों पूर्वकी बात आप कर रहे हैं।' उन्होंने कहा—'हुजूर ! कम-से-कम चालीस वर्ष पूर्वकी बात है।' मैजिस्ट्रेट साहबने पुनः पूछा—'इतने दिन व्यतीत हो जानेपर भी आपपर उनका वही भाव होगा, यह आप कैसे समझते हैं ?' इसपर वे बोले—'अवश्य वही भाव होगा; क्योंकि वे मनुष्य नहीं, देवता हैं। सज्जनोंका स्वभाव तथा प्रेम तो जन्मान्तरमें भी ज्यों-का-त्यों बना रहता है। भेंट ही नहीं हुई तो मैं क्या करूँ। भेंट हो जाती तो पाँच सौ क्या मैं माँगता तो उनसे एक हजार रुपये मिलनेमें भी मुझे कोई संदेह नहीं था।' तदनन्तर मैजिस्ट्रेट साहबने उनसे कहा—'हम समझ गये कि आप जान-बूझकर बिना टिकट रेल-सफर करनेवाले व्यक्ति नहीं हैं; किंतु हमने तो नियमानुकूल जुर्माना कर दिया। अब तो ये रुपये आपको देने ही पड़ेंगे और न देनेपर जेल जाना पड़ेगा।

इसके बाद मैजिस्ट्रेट साहबने एक पत्र लिखकर अपने चपरासीके हाथमें दिया और कहा, 'तुम जाओ और इस पत्रको लालकोठीवाले सेठजीको दे दो। उनसे जो कुछ मिले वह लेकर तुरंत मेरे पास वापस चले आओ।' चपरासी मैजिस्ट्रेट साहबके हाथसे पत्र लेकर चल दिया। इधर मैजिस्ट्रेट साहब अपने खेमेमें चले गये। करीब एक घंटेके अंदर चपरासी समस्तीपुरसे लौटकर आ गया और जो कुछ सामान लाया था, सब उसने साहबके सामने उपस्थित कर दिया। सामान लेकर मैजिस्ट्रेट साहबने चपरासीसे कहा कि '१०२ नम्बरवाले अपराधीको हाजिर करो।' वृद्ध सज्जन उपस्थित हुए। उनके आते ही मैजिस्ट्रेट साहबने उठकर बड़े आदरसे उन्हें कुर्सीपर बैठाया। उस समय उन वृद्धके मनमें अनेक प्रकारके संकल्प-विकल्प उठने लगे।

इसके बाद मैजिस्ट्रेट साहबने उनके सामने धोती, चादर और ७००) सात सौ रुपये रखकर उनके दोनों पैर छूकर प्रणाम करते हुए कहा कि 'आपसे ट्यूशन पढ़नेवाला आपका वह विद्यार्थी मैं ही हूँ। दो सौ रुपये तो आप जुर्मानेके भर दीजिये और बाकी ५००) रुपये लेकर परसों जो आपको काम करना है, उसे कर लीजिये।' सुनते ही वृद्ध महाशयकी आँखोंमें आँसू आ गये और अति शीघ्र सजलनेत्र साहबको उठाकर अपने हृदयसे लगा लिया तथा कहा—'आज मैं कृतार्थ हो गया।' इस प्रकार एक हाकिम और अपराधीके मिलनका अपूर्व दृश्य देख-सुनकर लोग बार-बार श्रीमान् मैजिस्ट्रेट महोदयको धन्यवाद देने लगे और कहने लगे, इस कलिकालमें भी श्रीकृष्णके समान शिष्य पाये जाते हैं। प्रत्युत्तरमें श्रीमान् मैजिस्ट्रेट महोदयने कहा—'और सान्दीपनि मुनिके समान गुरु भी पाये जाते हैं।'

—पं० रामविलास मिश्र, मनियारी

(४)

हमारी हीनवृत्ति कब मिटेगी ?

इस घटनाके पात्रसे तो मैं अभीतक नहीं मिला; पर मेरे एक समीपके मित्रसे मुझे घटनाका पता लगा।

यहाँ अफ्रिकामें कम्पालासे एक अच्छी नामी फर्मके एक भारतीय भाई पढ़नेके लिये इंग्लैंड गये थे। वहाँ वे एक यूरोपियन विधवाके घर 'पेइंग गेस्ट'के रूपमें रहते थे।

उन विधवा यूरोपियन बहिनके पास आजीविका चलानेके लिये खेत और पचीस गौएँ थीं। वह बहिन अभी हैं और इस सत्य घटनाको लगभग दो वर्ष हो चुके हैं।

यह बहिन गायोंके दूधपर अपनी जीविका चलाती हैं। एक दिन उस भाईने विधवा बहिनसे कहा—'माताजी! आपको अधिक पैसा कमाना चाहिये।'

विधवा बहिन—'जी हाँ, क्यों नहीं? पर किस तरह?'

भाई—'आज पाँच बाल्टी दूध आप बेच रही हैं। इसमें दो बाल्टी जल मिला दें तो बिना किसीको पता लगे सहजमें ही दूध बिक जायगा और आपको दो बाल्टीके पैसे अधिक मिलेंगे।'

इतना सुनते ही यूरोपियन बहिन एकदम लाल-पीली हो गयीं और उस भाईसे बोलीं—'तू अभी-का-अभी इस घरसे निकल जा। मुझे सिखाने आया है? क्या मैं अपने थोड़ेसे लाभके लिये मेरी सरकार और मेरे भाइयोंको धोखा दूँ? अब इस घरमें कभी पैर मत रखना। तुम भारतीयोंकी इस नीयतके कारण ही तो वर्षोंतक तुम्हें गुलामी भोगनी पड़ी और हमलोगोंने तुमपर शासन किया।' 'अखण्ड आनन्द'

—कृष्णकान्त ठकरार

(५)

कामधेनु

मैं तीन सालसे पेट-दर्दसे दुखी थी। चिकित्सककी पत्नी होनेके कारण दर्दके साथ ही चिकित्सा भी प्रारम्भ हो गयी थी। चिकित्साके साथ-साथ रोग बढ़ता ही गया। धीरे-धीरे भोजनसे भी अनिच्छा हो गयी तथा स्थिति चिन्तनीय हो गयी। इन्दौरके प्रमुख चिकित्सकों-ने विशेषरूपसे जाँच की, लेकिन किसी निष्कर्षपर न पहुँच सके। अन्तमें सबकी राय ऑपरेशन करानेकी हुई। ऑपरेशनकी १५ तारीख निश्चित की गयी। १० तारीखको मेरी वृद्धा दादी सासका निधन हो गया, अतः ऑपरेशन स्थगित हो गया।

मेरे श्वशुरजी आध्यात्मिक विचारधाराके व्यक्ति हैं। वे कई वर्षोंसे 'कल्याण' मँगवाते हैं तथा, संग्रह करते हैं। एक दिन मेरे पति पुराने कल्याण'के अङ्क पढ़

रहे थे। दैवयोगसे उनके हाथ सौर आश्विन २००७ सितम्बर १९५०का अङ्क आया। इस अङ्कमें उन्होंने एक रामायण-प्रेमीका लिखा हुआ 'मानस सिद्ध मन्त्र' नामक लेख पढ़ा और मुझे भी बतलाया। उक्त लेखमें विभिन्न मनोकामनाओंको पूर्ण एवं दुःखोंको दूर करनेके लिये रामायणसे लिये हुए इक्यावन सिद्ध मन्त्र लिखे हैं। डूबतेको तिनकेका सहारावाली बात हुई। मैंने लेखमें दी गयी विधिके अनुसार हवन करके विविध रोगों तथा उपद्रवोंकी शान्ति करनेवाले नीचे लिखे मन्त्र-को सिद्ध किया—

दैहिक दैविक भौतिक तापा। रामराज नहिं काहुहि ब्यापा॥

मन्त्र सिद्ध करके मैं प्रतिदिन दृढ़ विश्वासके साथ जाप करने लगी। धीरे-धीरे दर्दमें कमी होने लगी; मेरा विश्वास बढ़ने लगा। मैंने ऑपरेशन करवानेसे इन्कार कर दिया। उत्तरोत्तर विश्वास दृढ़तर होता गया तथा उसी क्रमसे रोग-निवारण भी होता गया एवं तीन महीनेमें मैं पूर्ण स्वस्थ हो गयी।

रामायणप्रेमीका लिखा हुआ यह लेख प्रत्यक्ष कामधेनु है, जिसमें समस्त मनोकामनाओंको पूर्ण करनेकी असीम साधना निहित है।

इसी संदर्भमें अपना एक छोटा-सा अनुभव और बतलाती हूँ—

मैं बी० ए० फायनलमें बैठी। कमजोर स्वास्थ्यके कारण पढ़ाईमें विघ्न हुआ। सबकी राय थी कि मैं परीक्षामें न बैठूँ, किंतु मुझे अपनी कामधेनुपर विश्वास था। मैंने निम्नलिखित मन्त्रका जाप करते हुए अध्ययन किया—

जेहि पर कृपा करहिं जनु जानी।
कबि उर अजिर नचावहिं बानी॥
मोरि सुधारिहि सो सब भाँती।
जासु कृपाँ नहिं कृपा अघाती॥

परीक्षा हुई, रिजल्ट निकला। मैं अनुत्तीर्ण हुई। मेरा अनुत्तीर्ण होना सबके लिये समझी हुई साधारण बात थी, किंतु मेरे लिये एक आश्चर्यकी बात थी। कुछ दिनों बाद यूनिवर्सिटीने नये नियमोंके अनुसार अंग्रेजीमें अनुत्तीर्ण छात्रोंको पूरक परीक्षाका अवसर दिया। मैं पूरकमें बैठकर उत्तीर्ण हो गयी। मुझे अपनी सफलतासे अपने विश्वासकी सफलतापर अधिक प्रसन्नता हुई।

उक्त घटनासे मेरा विश्वास और भी दृढ़ हो गया।

—श्रीमती वत्सला व्यास बी० ए०

संत कौन है ?

चित्ताह्लादि व्यसनविमुखं शोकतापापनोदि
यज्ञोत्पादि श्रवणसुखदं न्यायमार्गानुयायि।
तथ्यं पथ्यं व्यपगतमदं सार्थकं मुक्तवादं
यो निर्दोषं रचयति वचस्तं बुधाः सन्तमाहुः॥

जो पुरुष चित्तको प्रसन्न करनेवाला, व्यसनसे विमुख, शोक और तापको शान्त करनेवाला, भगवत्पूजाका विधान करनेवाला, कर्णसुखद, न्यायानुकूल, सत्य, हितकर, मदरहित, अर्थगर्भित, विवादरहित और निर्दोष वचन बोलता है, उसे ही बुधजन संत कहते हैं।

राजस्थानका भयानक अकाल

राजस्थानके भयानक अकालके कारण कई जिलोंमें गौओं तथा मनुष्योंकी बड़ी शोचनीय दशा हो गयी है। 'कल्याण'के पाठक इस बातको जानते हैं। एक सज्जनके भेजे आँकड़ोंके अनुसार लाखों गौएँ मृत्युके मुखमें जा चुकी हैं। उन्हें बचानेकी चेष्टा हुई है, हो रही है, पर मनुष्यकी शक्ति सीमित है; वह कितना क्या कर सकता है। बचानेवाले तो भगवान् ही हैं। तथापि यथासाध्य प्रयत्न करना मनुष्यका कर्तव्य है। वह स्वयं खाता रहे और उसकी आँखोंके सामने दीन-दुखी असहाय होकर प्राणी मरते रहें, यह सर्वथा अनुचित है। वह चाहे बचा न सके, पर जब स्वयं खाता-पीता है तो अपनी शक्तिभर उसे उन असहायोंको बचानेकी भी चेष्टा करनी ही चाहिये। कर्तव्यपालनमें संख्याकी महत्ता नहीं है। महत्ता है सच्ची समवेदनाकी, भावकी और तदर्थ-त्यागकी। इस दिशामें जिस मानव-समाजमें जितनी अधिक कर्तव्य-परायणता है, उसमें उतना ही अधिक मानवताका विकास है। प्रसन्नताकी बात है कि न्यूनाधिकरूपसे इस समय सहस्रों सहृदय मानव यथासाध्य सहायता कर रहे हैं। संस्थाओंके द्वारा भी सेवाकार्य चल रहा है। सरकार भी प्रयत्न कर रही है, यद्यपि वर्तमान राजनीतिक पतनोन्मुखी परिस्थितिके कारण सरकारके कई हृदयवान् अधिकारी जितना सेवाकार्य करना चाहते हैं, उतना हो नहीं पा रहा है। इसी कर्तव्य-प्रेरणासे इस प्रकारकी असहाय परिस्थितियोंमें, देशके विभिन्न प्रदेशोंमें—गीताप्रेसकी ओरसे सदासे ही थोड़ा-बहुत सेवा-कार्य करनेका प्रयत्न किया जाता रहा है। तदनुसार इस बार भी बहुत पहलेसे ही राजस्थानमें (अपनी सीमित शक्तिके अनुसार सीमित क्षेत्रमें ही) सेवाकार्य आरम्भ कर दिया गया था और वह भगवत्कृपासे तथा हमारे निस्स्वार्थ सेवाभावी सज्जनोंके अनवरत सेवाकार्यमें संलग्न रहनेके कारण सुचारुरूपसे चल रहा है। इस समय 'गीताप्रेस-सेवादल'के केन्द्रोंमें लगभग तीन हजार गौएँ हैं। अबतक एक बड़ी धनराशिका इस कार्यमें सद्व्यय हो चुका है। पीड़ित मानवोंकी सेवाका कार्य भी यत्किंचित् चल रहा है। कपड़े, धूँसे भी बाँटे गये हैं। अवश्य ही यह सब है—समुद्रमें बूँद-जैसा ही।

गीताप्रेस रुपयोंके लिये अपील नहीं करता। सेवाकी इच्छासे स्वतः ही सज्जनवृन्द भेज दिया करते हैं। इस बार इस काममें कुछ धनराशि ट्रस्टकी ओरसे लगायी गयी है। शेष स्वतः ही आये हुए तथा कलकत्तेके कुछ सहृदय सज्जनोंके प्रयत्नसे भिजवाये हुए धनसे काम चल रहा है और जबतक भगवदिच्छा होगी, चलता रहेगा। यह भगवान्‌का ही कार्य है, उन्हींकी धनराशि है, उन्हींकी प्रेरणा है, वही देनेवाले हैं और उन असहाय प्राणियोंके रूपमें वे ही ग्रहण करनेवाले भी हैं। हम तो केवल निमित्तमात्र हैं। राजस्थान सरकारने गत माससे आधा खर्च देना आरम्भ किया है—इसके लिये हम उसके कृतज्ञ हैं।

इस सम्बन्धमें किसीको पत्र-व्यवहार करना हो तो 'गीताप्रेस-सेवादल' गीताप्रेस, गोरखपुरके नामसे करना चाहिये और धन भेजना हो तो चेक, ड्राफ्ट, बीमा, मनीआर्डरसे 'गीताप्रेस, गोरखपुर'के नाम भेजना चाहिये। चेक, ड्राफ्ट गीताप्रेस, गोरखपुरके नामका हो।

गीताप्रेसके सिवा—जयपुर गो-सेवासंघ, राष्ट्रीय-स्वयंसेवक-संघ, मारवाड़ी रिलीफ सोसाइटि, अकाल-सहायता-समिति, बम्बईकी राजस्थान रिलीफ सोसाइटि, सर्वदलीय गोरक्षा-अभियान समिति तथा और भी बहुत-सी संस्थाएँ सेवाकार्यमें संलग्न हैं और उनके द्वारा भी बहुत अच्छा सेवाकार्य हो रहा है।

डाक्टर श्रीसम्पूर्णानन्दजीको अमरत्वकी प्राप्ति

जिसका जन्म हुआ है, उसकी मृत्यु होगी ही—यह अनिवार्य है। पर इन जन्मने-मरनेवालोंमें कोई-कोई ऐसे उच्चस्तरके महानुभाव होते हैं, जिनका जीवन सर्वभूतहितरूप भगवत्सेवामें ही बीतता है और उनकी इस आत्मीयतापूर्ण पवित्र सेवावृत्तिकी स्मृति करके घर-बाहरके असंख्य नर-नारी उनके वियोगमें सच्चे आँसू बहाया करते हैं। हमारे श्रीसम्पूर्णानन्दजी भी एक ऐसे ही महामानव थे। इनकी बहुमुखी प्रतिभासे असंख्य लोग प्रभावित थे। ये वेदान्त, दर्शन, तन्त्र, व्याकरण, ज्योतिषके महान् विद्वान्; राजनीतिके महान् पण्डित, व्यवस्था तथा नीतिमें निपुण उदार शासक, भारतीय संस्कृतिके उपासक तथा उसके मूर्तिमान् रूप, नित्य नियमित भगवत्-उपासक, सर्वथा निर्भीक, स्पष्टवादी, साहित्यप्रेमी तथा विविध विषयोंपर मौलिक मूल्यवान् साहित्यरचनाकार, उदारहृदय, निस्स्वार्थ, तपस्वी, सच्चे देशसेवक, सिद्धान्तके लिये सर्वत्याग करनेवाले, स्वतन्त्र विचारक तथा धर्मभीरु पुरुष थे। गीताप्रेस तथा 'कल्याण'के साथ इनका चिरकालसे घनिष्ठ स्नेह-सम्बन्ध था। 'कल्याण' में उत्साही विद्वान् लेखक होनेके साथ ही ये समय-समयपर उचित तथा बहुमूल्य परामर्श देते रहते थे। मेरे साथ तो इनका अति निकट आत्मीयताका सम्बन्ध था। ये मुझको अपना मानते थे और मैं इनको अपना। आप जगज्जननी देवीजीके परम भक्त थे, और हमारे विश्वासके अनुसार इनको दिव्य देवीलोक—परमधाममें ही पहुँच जाना चाहिये। वियोगकी बड़ी वेदना—देशकी पूर्ति न हो सकनेवाली बहुत बड़ी हानि होनेके कारण भारी शोकका प्रत्यक्ष स्थल होनेपर भी हमें इसलिये शोक नहीं करना चाहिये कि ये अपनी उज्ज्वल कीर्तिसे सदा अमर हैं और आत्माके नित्य अमृतत्वमें परिनिष्ठित होनेके तथा विलक्षण मातृ-भक्तिके कारण इनको वह दिव्य स्थान मिलना चाहिये, जो परम शाश्वत, शान्त तथा नित्य परमानन्दमय है!